Prakashika Series
No. 60

General Editor
Dr. Sachchidanand Joshi

नटाङ्कुशम्

(अज्ञातकर्तकम्)

सम्पादकः हिन्दीभाषानुवादकश्च

राधावल्लभः त्रिपाठी

Indira Gandhi National
Centre for the Arts

राष्ट्रीय पाण्डुलिपि मिशन
॥ विज्ञानमुपास्व ॥
National Mission for Manuscripts

Janpath Building, Janpath, New Delhi - 110001

प्रथम मुद्रण, 2023
© राष्ट्रीय पाण्डुलिपि मिशन, नई दिल्ली
ISBN: 978-93-80829-92-0
Price: ₹ 650

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस प्रकाशन के किसी भी अंश का किसी भी रूप में पुनर्मुद्रण, या किसी भी विधि; जैसे – इलेक्ट्रॉनिक, यान्त्रिक, फोटो-प्रतिलिपि, रिकॉर्डिंग या कोई अन्य विधि – से प्रयोग या किसी ऐसे यन्त्र में भण्डारण, जिससे इसे पुनः प्राप्त किया जा सकता हो, कॉपीराइट धारक एवं प्रकाशक की पूर्वलिखित अनुमति के बिना नहीं किया जा सकता।

प्रकाशक
प्रकाशन अधिकारी
इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय कला केन्द्र
जनपथ बिल्डिंग, जनपथ
नई दिल्ली – 110001

मुद्रक : डी॰के॰ प्रिण्टवर्ल्ड, नई दिल्ली - 110015

Foreword

This volume is the 60th book under the Prakashika series of the National Mission for Manuscripts. The series brings out the critical edition of unpublished and rare manuscripts. In a significant recent development, the Ministry of Culture, Government of India has brought the Mission's activities and functioning under the Indira Gandhi National Centre for the Arts (IGNCA) giving it a new synergy, reach and scope.

Naṭāṅkuśa, a sixteenth-century work critiques the theatre of its time and analyses the practices of a particular sect of actors of Sanskrit theatre. Work of a purist and classicist author, who brings out in this work the dichotomy and contradictions of Kudiyattam theatre by pointing out the objectionable digressions and defects in a performance. He cites great masters of drama and literary theory. Naṭāṅkuśa is on the whole an invaluable work describing Kerala theatre of the medieval period. Naṭāṅkuśa instructs the actors to follow the essence of the play and provides guidance in the manner of communication with the audience.

This volume provides the Hindi translation of the Sanskrit text from the pen of a literary genius, none other than Professor Radhavallabh Tripathi, one of the foremost professors of Sanskrit in India. Dozens of works stand testimony to his creative writings in English, Hindi and Sanskrit. His contribution, specific to Sanskrit drama is unparalleled.

I am sure, this volume will be helpful not only for the students and scholars of dramatics, but the entire society.

Dr. Sachchidanand Joshi
Member Secretary
Indira Gandhi National Centre for the Arts

आमुख

संस्कृत का प्राचीन वाङ्मय ज्ञान और विज्ञान की अपार सम्पदा से भरा हुआ है। यह गौरव का विषय है कि राष्ट्रीय पाण्डुलिपि मिशन द्वारा इस साहित्य भण्डार से *नटाङ्कुश* जैसे एक दुर्लभ और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का प्रकाशन किया जा रहा है। *नटाङ्कुश* नाट्यप्रयोगों की विशद समीक्षा करने वाला विश्व का सबसे प्राचीन ग्रन्थ कहा जा सकता है। विश्व धरोहर के रूप में सुप्रसिद्ध कूडियाट्टम् के रंगमंच और उस पर होने वाले नाट्य-प्रयोगों की जो समीक्षा इस ग्रन्थ में की गई है, वह सौन्दर्यशास्त्र और कलानुभूति के मूलभूत प्रश्नों को उठाती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह एक महान् शास्त्रकार और चिन्तक की अमूल्य कृति है। इसकी अनेक प्रस्थापनाएँ अत्यन्त ज्ञानवर्धक, सुबोध्य तथा विचारोत्तेजक हैं।

प्रोफेसर राधावल्लभ त्रिपाठी संस्कृत के विश्वविश्रुत मूर्धन्य विद्वान् हैं। अपने गम्भीर शात्राध्ययन द्वारा उन्होंने संस्कृत साहित्य के अनेक अज्ञात मनोहर पक्षों को उद्घाटित किया है तथा साहित्य के एक मौलिक सर्जक और अन्वेषक के रूप में अप्रतिम प्रतिष्ठा प्राप्त की है। इसके पूर्व इनके द्वारा सम्पादित सुन्दरराज कवि कृत नाट्यशास्त्र-विषयक *नाट्यप्रदीप* का राष्ट्रीय पाण्डुलिपि मिशन की ओर से प्रकाशन किया गया था। प्रस्तुत प्रकाशन द्वारा प्रोफेसर त्रिपाठी ने *नटाङ्कुश* जैसे महनीय ग्रन्थ का पुनरुद्धार तो किया ही है, साथ ही साथ पहली बार हिन्दी अनुवाद सहित प्रस्तुत करके उन्होंने साहित्य जगत् के लिए बड़ा उपकार भी किया है। हमे विश्वास है कि *नटाङ्कुश* नाटक, रंगमंच तथा कला और सौन्दर्यशास्त्र में रुचि रखने वाले सभी साहित्यप्रेमियों के लिए उपकारक सिद्ध होगा।

अनिर्बाण दाश
निदेशक
राष्ट्रीय पाण्डुलिपि मिशन
इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय कला केन्द्र
नई दिल्ली

Preface

Naṭāṅkuśa is a unique work in Sanskrit written by an unknown author in sixteenth century CE. In his attempt at critiquing the contemporary theatre, the author makes a threadbare analysis of the practices of *cākyāra*s (actors) of Sanskrit theatre during his times. Bringing out the dichotomy and inner contradictions in the practice of Kūḍiyāṭṭam theatre, he raises fundamental questions regarding the relationship between the *śāstra* and the *loka* – the theory and the practice. Utilizing the postmodern techniques of deconstruction, he has demolished prevailing notions and displayed an extraordinary scholarship and argumentative skills. The techniques of presenting the prima facie view and its rejoinder – *pūrvapakṣa* and *uttarapakṣa* have been displayed in a masterly manner. The main objections of the author of this work to the performance of the *cākyāra*s are:

i. Mixing dialects in the original text of a play,
ii. interpretative method of performance, separating *abhinaya* from the text,
iii. interpolating stanzas and episodes in a play,
iv. distorting the ritualistic structure of *pūrvaraṅga* – the preliminaries as prescribed by Bhatratamuni, and above all
v. mixing *kriyā* or *kriyānṛtta* – pure dance unconnected to the sequence of performance.

The author is a purist and a classicist. He criticizes the improvisational techniques of the *cākyāra*s as objectionable digressions. Being well versed in several texts of Kāvyaśāstra, he cites great masters of literary theory like Daṇḍin and Mammaṭa. His profuse citations from the *Nāṭyaśāstra* of Bharata reveal a thorough understanding of the text. He intends to utilize his scholarship to instruct the actors and reform their practices. Summing up the defects of a performance, he says that the actors should specifically follow the directives of the play. They should understand the essence of the poet. This is the ideal practice. Adding passages and episodes not available in the play and omitting passages and episodes which are in the original, abridging the original and expanding it – these are the defects in performance according to *Naṭāṅkuśa*.

The author of *Naṭāṅkuśa* intends to discipline the performer with his knowledge of the *śāstra*. However, he is unable to appreciate the novelty of improvisations and

the efforts of the actors to communicate with their audiences. Sometimes he imposes narrow restrictions overlooking the autonomy and the creativity of the performer.

Despite the harsh criticism, *Naṭāṅkuśa* is undoubtedly an invaluable work furnishing a first-hand account of Kerala theatre as practised in the medieval period. It also provides vivid accounts of Sanskrit plays in performance, especially *Āścaryacūḍāmaṇi* of Śaktibhadra.

The present edition of *Naṭāṅkuśa* is based on manuscripts obtained from the library of Sanskrit College Tripunithura and Adyar Library and Research Centre, Madras. I am confident that it will go a long way with the students and researchers of classical Indian theatre and will also serve as a manual for the practitioners of Indian theatre according to Bharata's *Nāṭyaśāstra*.

Radhavallabh Tripathi

अनुक्रम

Foreword v

आमुख vii

Preface ix

आभार xvii

संक्षिप्त नाम-सूची xviii

भूमिका १

ग्रन्थारम्भः (ग्रन्थारम्भ) १७

प्रथमः अङ्कुशः (प्रथम अंकुश)
क्रियानृत्यखण्डनम् (क्रियानृत्य के समावेश का खण्डन)

१. क्रिया अभिनय एवेति पक्षस्य खण्डनम् (क्रिया अभिनय है – इस पक्ष का खण्डन) २१

२. क्रिया देवताप्रीत्यर्थमिति द्वितीयपक्षस्य खण्डनम् (क्रियानृत्य देवताप्रीत्यर्थ है – इस द्वितीय पक्ष का खण्डन) २२

३. देवताप्रीत्यर्थं क्रियेति पक्षस्य खण्डनम् (क्रिया देवता को प्रसन्न करने के लिए है – इस पक्ष का खण्डन) २३

४. आश्चर्यचूडामणौ विविधप्रसङ्गेषु नृत्यप्रयोगः स्याद्वा न वा? (क्या आश्चर्यचूड़ामणि नाटक के विविध प्रसंगों में नृत्य का प्रयोग अपेक्षित है?) २५

५. क्रिया अनुकार्यस्य स्वभावचेष्टेति तृतीयपक्षस्य खण्डनम् (क्रिया अनुकार्य की स्वाभाविक चेष्टा है – इस तृतीय पक्ष का खण्डन) २७

६. कथाभिनयाङ्गं नृत्यमिति चतुर्थपक्षस्य खण्डनम् (नृत्य कथा के अभिनय का अंग है – इस चतुर्थ पक्ष का खण्डन) २८

७. नृत्यं नाट्याभिनये शोभाजननमिति पूर्वपक्षस्य खण्डनम् (नृत्य नाट्याभिनय में शोभाजन है – इस पक्ष का खण्डन) २८

८. नृत्यं नटस्य प्रेक्षकस्य च संस्काराय इति पक्षस्य खण्डनम् (नृत्य नट तथा प्रेक्षक के संस्कार के लिए है – इस पक्ष का खण्डन) २९

९. क्रियायाः देवताप्रीतिविधायित्वे पूर्वपक्षिणः पुनस्तर्कः, तत्खण्डनं च (क्रिया देवता प्रीतिविधायिनी है – इस सम्बम्ध में पूर्वपक्षी का पुनः तर्क तथा उसका खण्डन) २९

१०. प्रकरणोपसंहारः (प्रकरण का उपसंहार) ३०

द्वितीयः अङ्कुशः (द्वितीय अंकुश)

क्रियायाः पूर्वरङ्गतानिराकरणम् (क्रिया के पूर्वरंग होने का निराकरण)

१. पूर्वरङ्गस्य नियतभावित्वं नृत्यस्यानित्यभावित्वं च (पूर्वरंग का नियतभावित्व तथा नृत्य का अनियतभावित्व) ३३

२. नृत्यक्रियायाः वेषभाषादिवन्नाट्याङ्गतेति पूर्वपक्षिणः पुनस्तर्कः (नृत्य वेश और भाषा आदि के समान नाट्य का अंग हो सकता है – इस पर पूर्वपक्षी का पुनः तर्क और उसका खण्डन) ३४

३. क्रियायाः निष्प्रयोजनतेति उत्तरपक्षः (क्रिया निष्प्रयोजन है – इस सिद्धान्त पक्ष का प्रतिपादन) ३५

४. क्रियायाः कारणगवेषणं निरर्थकमिति पूर्वपक्षिणस्तर्कः (क्रिया के कारण की गवेषणा निरर्थक है – पूर्वपक्षी के इस मत का खण्डन) ३६

५. क्रिया अभिधया लक्षणया वा बोध्येति पक्षस्य खण्डनम् (क्रिया अभिधा या लक्षणा से सूचित है – इस पक्ष का खण्डन) ३८

६. क्रियायां मुनिवचनं प्रामाण्यमिति पक्षस्य खण्डनम् (क्रिया या नृत्य जोड़ने के लिए भरतमुनि का वचन प्रमाण है – इस पक्ष का खण्डन) ३९

७. क्रियायाः साध्यत्वे हेत्वाभासाः (नृत्यक्रिया की साध्यता में हेत्वाभास) ४०

८. आचारस्योपलब्धेः आगमप्रमाणमूलमावश्यकम् (प्रचलित आचरण के मूल में आगम प्रमाण होना आवश्यक) ४१

९. आचारस्य स्मृतिमूलकतायां स्मृतेः प्रत्यक्षत्वमपेक्षितम् (आचार की स्मृतिमूलकता में स्मृति का प्रत्यक्ष होना आवश्यक) ४१

१०. अप्रतिषिद्धम् अनुमतं स्यादिति मतस्य खण्डनम् (अप्रतिषिद्ध की अनुमति है – इस मत का खण्डन) ४२

११. क्रियायाः नाट्यशास्त्रोक्तत्वस्य खण्डनम् (क्रिया के नाट्यशास्त्र प्रतिपादित होने का खण्डन) ४२

१२. अनुक्तपरिग्रहे आगमवैयर्थतापत्तिः (अनुक्त के ग्रहण में आगम की निरर्थकता की आपत्ति) ४३

१३. विषं भक्षयेत्यादि वाक्ये अप्रतिषिद्धस्यानुमतेः खण्डनम् (विषं भक्षय इस वाक्य में अप्रतिषिद्ध के अनुमत होने का खण्डन) ४४

१४. पुनः पूर्वपक्षस्योत्थापनम् (पूर्वपक्ष का पुनः उत्थापन) ४५

१५. उक्तसिद्धस्य परिग्रहो युक्त इति सिद्धान्तप्रतिपादनम् (जो उक्त है, उससे स्वयंसिद्ध होनी वाली बातों का ग्रहण उचित है – इस सिद्धान्त का प्रतिपादन) ४६

१६. अत्र पूर्वपक्षस्य शङ्का, तन्निराकरणं च (पुनः पूर्वपक्ष की शंका और उसका निराकरण) ४७

१७. अनुक्तपरिग्रहे पुनः पूर्वपक्षोत्थापिता शङ्का तत्खण्डनं च (अनुक्तपरिग्रह पर पूर्वपक्ष की ओर से पुनः उठने वाली शंका तथा उसका समाधान) ४७

१८. क्रियाया सन्निवेशे युक्तेरावश्यकत्वम् (क्रिया को नाट्यप्रयोग में जोड़ने के विषय में युक्ति आवश्यक) ४९

तृतीयः अङ्कुशः (तृतीय अंकुश)

क्रियानृत्यनिरूपणोपसंहारः (क्रिया नृत्यनिरूपण का उपसंहार)

१. क्रियाया परिग्रहे सहृदयानां स्वीकृतिरस्ति वा न वा? (क्रिया नाट्य में सम्मिलित करने पर क्या सहृदयों की सम्मति है?) ५१

२. आप्तवचनप्रामाण्यम् (क्रिया के नाट्य में सम्मिलित करने के विषय में आप्तवचन प्रमाण है) ५१

३. संवादे तदुत्तरभाविन्यां क्रियायां सम्बन्ध आवश्यकः (संवाद और उसके पश्चात् की जाने वाली क्रिया में सम्बन्ध आवश्यक) ५२

४. क्रियाया त्रिशङ्कुरिवानावश्यकत्वम् (क्रिया त्रिशंकु के समान अनावश्यक है) ५३

५. पूर्ववृत्तान्ताभिनयोऽनपेक्षित इति सिद्धान्तपक्षस्थापना (पिछले वृत्तान्तों का अभिनय अनपेक्षित है – इस सिद्धान्त पक्ष की स्थापना) ५४

६. क्रियेति संज्ञाविषये आक्षेपः (क्रिया – इस संज्ञा के सम्बन्ध में आक्षेप) ५६

चतुर्थः अङ्कुशः (चतुर्थ अंकुश)

अङ्गुलीयाङ्के अनौचित्यपरम्परा (अंगुलीय अंक में अनौचित्य की परम्परा)

१. क्रियायाः पौर्वापर्यविषये मतिभ्रमः (क्रिया के पौर्वापर्य के विषय में मतिभ्रम) ५७

२. पूर्ववृत्तान्ताभिनये अनवस्थाप्रसङ्गः (पूर्व वृत्तान्तों के अभिनय में अनवस्था का दोष) ५८

३. चाक्यारैः प्रयुज्यमानस्य मूलनाटकस्य उपेक्षा (चाक्यारों द्वारा प्रयुज्यमान मूल नाटक की उपेक्षा) ५९

४. चाक्यारैः सिद्धस्य ग्रहणम् असिद्धस्योपेक्षा (चाक्यारों द्वारा सिद्ध का ग्रहण तथा असिद्ध की उपेक्षा) ६०

५. पूर्वसम्बन्धसमीक्षणम् (पूर्वसम्बन्ध की समीक्षा) ६१

६. अस्मदर्थवैधुर्यसहितं नटनस्य समीक्षा (नट द्वारा अस्मदर्थवैधुर्य – कभी आत्मभाव तो कभी परभाव में स्थित रहकर नाट्य करने पर आपत्ति) ६२

७. अभिनये आत्मभाव-परभाव-विवेकः (अभिनय करते समय नट के आत्मभाव और परभाव में विवेक) ६४

८. नटेन स्वाभिनीतपात्रव्यतिरिक्तमन्यपात्रस्यानुकृतौ विप्रतिपत्तिः (नट द्वारा स्वाभिनीत पात्र के अतिरिक्त दूसरे पात्र का अभिनय करने लग जाने पर आपत्ति) ६६

९. एकेन नटेन अनेकभूमिकापरिग्रहे आसाधारणं कौशलमिति पूर्वपक्षिणस्तर्कः, तस्य खण्डनं च (पूर्वपक्षी का तर्क कि एक नट द्वारा अनेक भूमिकाएँ एक साथ किया जाना आसाधारण कौशल है और उसका खण्डन) ६८

१०. विकलनटने कौशलम्, अविकलनटने वेति पर्यालोचना (विकल अभिनय में कौशल है या अविकल में – इस प्रश्न पर विचार) ६९

११. नाट्यशास्त्रोक्तनाट्यधर्मीकृताभिनयसम्मतं एकस्य नटस्य बहुभूमिकाकरणमिति पूर्वपक्षिणो वादस्य निराकरणम् (एक नट द्वारा अनेक भूमिकाएँ करना नाट्यशास्त्र सम्मत है – पूर्वपक्षी के इस कथन का निराकरण) ७१

१२. हनुमतो भूमिकायां नटस्य सीतानुकरणसमये चेलाञ्चलोल्लम्बने आक्षेपः (हनुमान् की भूमिका करते हुए नट का सीता का अनुकरण करने लग जाना और आँचल पकड़ना – इस पर आक्षेप) ७३

१३. अभिनये अनेकभूमिकासाङ्कर्येण अनार्यत्वम् (नाट्याभिनय में अनेक भूमिकाओं को एक साथ मिलाने से अनार्यत्व का आक्षेप) ७४

१४. अनेकभूमिकाग्रहणं नृत्यं नृत्तं वेति पूर्वपक्षस्य खण्डनम् (अनेक भूमिकाएं एक नट द्वारा करने पर इसे नृत्य या नृत्त कहा जा सकता है – इस पूर्वपक्ष का खण्डन) ७४

१५. पृथक् पृथक् भूमिकानां कृते पृथक् पृथगेव नटाः स्युरिति सिद्धान्तस्य प्रतिपादनम् (अलग-अलग भूमिकाओं के लिए अलग-अलग ही अभिनेता होंगे – इस सिद्धान्त का प्रतिपादन) ७५

१६. अनेकभूमिकाग्रहणे अनुकर्तृत्वापत्तिः (अनेक भूमिकाएं करने पर अनुकर्ता कौन होगा – यह आपत्ति) ७६

१७. अनुकार्य-परामृश्य-विवेकः (अनुकार्य और परामृश्य में अन्तर) ७७

१८. भावाभिनयेऽभिनेतुर्नियतत्वम् (एक पात्र का ही भावाभिनय एक अभिनेता द्वारा किया जाना आवश्यक) ८२

१९. अनुकार्यानुकर्त्रोर्विवेकः (अनुकार्य तथा अनुकर्ता – पात्र और अभिनेता – में सम्बन्ध और अन्तर) ८३

२०. हनुमदनुकर्तरि नटे रामादेरारोपेण अनवस्था तिरोहितत्वापत्तिश्च (हनुमान् का अनुकरण करने वाले नट पर रामादि के आरोप के कारण अनवस्था तथा अदृश्यत्व की आपत्ति) ९२

२१. परामर्शोऽनुकरणं नास्तीति पूर्वपक्षिवादे विचारः (परामर्श अनुकरण नहीं – पूर्वपक्षी के इस कथन पर विचार) ९३

२२. वेषविरुद्धानुकरणस्यासिद्धत्वम् (वेष या आहार्य के विरुद्ध अनुकरण करने में अनुपपत्ति) ९४

२३. चाक्यारैर्नाट्यशास्त्रोक्तविधीनामुल्लङ्घनम् (चाक्यारों द्वारा नाट्यशास्त्रोक्त विधियों के उल्लंघन) ९६

२४. पुनरावृत्तिदोषः (चाक्यारों की प्रस्तुति में कथा की पुनरावृत्ति पर आपत्ति) ९७

२५. शूर्पणखाया अङ्गच्छेदे अनौचित्यम् (शूर्पणखा के नाक-कान काटते समय स्तनच्छेद का अनौचित्य) ९८

पञ्चमः अङ्कुशः (पञ्चम अंकुश)
मन्त्राङ्कनिरूपणम् (मन्त्राङ्क का निरूपण)

१. केरलभाषाया मिश्रणे विप्रतिपत्तिः (प्राकृत के स्थान पर मलयालम् भाषा के प्रयोग पर आपत्ति) ९९

२. शृङ्गाराभासे अनौचित्यम् (शृंगाराभास में वेश्या के साथ ब्राह्मण के सम्बन्ध का अनुचित वर्णन) १०४

३. राजनयप्रतिपादनेन अकाण्डप्रथनम् (राजनीति के प्रतिपादन द्वारा अकाण्डप्रथन दोष) १०७

४. वसन्तकविहितायां वैद्यनिन्दायामनौचित्यम् (वसन्तक द्वारा वैद्यों की निन्दा करने में अनौचित्य) ११२

५. प्रसङ्गारान्तेण अनवस्थाप्रसक्तिः (अन्य प्रसंगों को जोड़ने से अनवस्था दोष) ११३

६. रुमण्वदभावे प्रयोगस्य अनौचित्यम् (रुमण्वान् के पात्र को न दिखाने की आलोचना) ११४

७. रुमण्वतः उपस्थितेः प्रयोजकत्वम् (रुमण्वान् की मंच पर उपस्थिति सप्रयोजन है) ११५

षष्ठः अङ्कुशः (षष्ठ अंकुश)
उक्तपात्राणामप्रवेशः (सूचित कर दिए गए पात्रों का प्रवेश न कराना)

१. गायिकया श्लोकगानयोजनायामनौचित्यम् (प्रयोग के बीच में गायिका के श्लोक-गायन को जोड़ने में अनौचित्य) ११९

२. सीताप्रवेशाप्रवेशपर्यालोचनम् (सीता के कहीं प्रवेश और कहीं प्रवेश न कराने की समीक्षा) १२०

३. अयोनिजायाः प्रवेशस्य औचित्यपरीक्षणम् (अयोनिजा के प्रवेश के प्रश्न पर विचार) १२१
४. शास्त्रप्रयोगयोः सम्बन्धसमीक्षा (शास्त्र और प्रयोग के अन्तःसम्बन्ध का विचार) १२८

सप्तमोऽङ्कुशः (सप्तम अंकुश)

उपसंहारः (उपसंहार) १३१

परिशिष्ट १ – नटाङ्कुशकार द्वारा विरचित कारिकाएँ तथा श्लोक १४१
परिशिष्ट २ – नटाङ्कुश में अन्य ग्रन्थों से उद्धृत श्लोक तथा कारिकाएँ १५१
परिशिष्ट ३ – नटाङ्कुश में उद्धृत/उल्लिखित ग्रन्थ १५४
सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची १५५

आभार

मैं राष्ट्रीय पाण्डुलिपि मिशन, नई दिल्ली के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हूँ, जिसकी ओर से इस कार्य को करने के लिए मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ। *नटाङ्कुश* की पाण्डुलिपि उपलब्ध कराने के लिए मैं संस्कृत महाविद्यालय त्रिपुनीथुरा के प्राचार्य तथा वहाँ के पुस्तकालय प्रभारी के प्रति आभार प्रकट करता हूँ। प्राप्त पाण्डुलिपि का मलयालम् लिपि से देवनागरी में लिप्यान्तर कराने के लिए प्रो॰ गोविन्द पाण्डेय, आचार्य शिक्षाशास्त्र विभाग, केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, भोपाल परिसर ने मेरी सहायता की है, उसके लिए मैं उन्हें साधुवाद देता हूँ।

राधावल्लभ त्रिपाठी

संक्षिप्त नाम-सूची

आ॰चू॰	*आश्चर्यचूड़ामणि नाटक* (शक्तिभद्र)
का॰प्र॰	*काव्यप्रकाश* (मम्मट)
दशरू॰	*दशरूपक* (धनञ्जय)
ना॰शा॰	*नाट्यशास्त्र* (भरत मुनि)
प्रतिज्ञा	*प्रतिज्ञायौगन्धरायण* (भास)

भूमिका

परिचय

नटाङ्कुश केरल में आज से लगभग पाँच सौ वर्ष पूर्व होने वाले संस्कृत नाट्यप्रयोगों की प्रखर समीक्षा करने वाला एक अनोखा ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ एक शास्त्रकार की अत्यन्त सूक्ष्मदृष्टि के साथ उसकी अनुदारता और संकीर्णता का एक रोचक उदाहरण है। यह ग्रन्थ केरल में सोलहवीं शताब्दी में उस समय लिखा गया, जब चाक्यारों की कला और कूडियाट्टम् का रंगमंच अपने प्रकर्ष पर था। रंगमंच के एक समृद्ध प्रस्थान की इतनी कड़ी समीक्षा करने वाला और उसकी सारी प्रविधियों, प्रयोगों पर प्रश्न खड़ा करने वाला अन्य कोई ऐसा ग्रन्थ हमारे साहित्य में नहीं मिलेगा। यह ग्रन्थ एक उद्भट पण्डित द्वारा रचा गया है, जिसे *नाट्यशास्त्र* और संस्कृत साहित्य के साथ-साथ अनेक शास्त्रों का अच्छा ज्ञान है। दसवीं शताब्दी में कुलशेखर ने नाटक को लोकप्रिय बनाने के लिए समकालीन रंगमंच तथा *नाट्यशास्त्र* द्वारा निर्दिष्ट पद्धतियों में अनेक परिवर्तन किए। *नटाङ्कुश* उन सारी प्रवृत्तियों पर सवाल खड़े करता है, जो रंगमंच को सामान्य जन से जोड़ रही थीं। चाक्यारों पर एक यथास्थितिवादी दृष्टि से यह ग्रन्थ तीखा प्रहार करता है। आरम्भ से ही वह कूडियाट्टम् के अभिनेताओं के प्रति उपहास और विडम्बना की मुद्रा अपनाता है।

तत्रामीभिस्तु शैलूषैः नाट्यं यत् प्रवितन्यते।
लोकोत्तरत्वात् तन्नूनं तदवगन्तुं न गच्छति।
गर्वायन्ते च तेनामी वयमेवात्रा पण्डिताः।
नास्मत्प्रयोगं जानन्ति मुग्धा एते जना इति॥

ये शैलूष लोग जो नाट्य प्रयुक्त करते हैं, नाट्य के लोकोत्तर वस्तु होने के कारण सामान्य लोग उसकी कमी को समझ नहीं पाते। इसी के बल पर ये लोग घमण्ड में फूल रहे हैं और सोचते हैं कि नाट्य के क्षेत्र में तो बस हम ही पण्डित हैं। हमारे प्रयोग को ये भोले-भाले लोग क्या जानेंगे?

शैलूष शब्द के प्रयोग के द्वारा ग्रन्थकार विकृत नाट्यप्रयोग करने वाले नटों के प्रति निन्दा भाव प्रकट करते हैं। उन्होंने कूडियाट्टम् का प्रयोग करने वाले चाक्यारों को धिक्कार के अर्थ में ही शैलूष कहा है।

चाक्यारों के काम को लेकर नटाङ्कुशकार की मुख्य आपत्तियाँ ये हैं – संस्कृत के नाटक में केरलभाषा (मलयालम्) का जहाँ मन आए, मिश्रण कर देना; पहले पाठ करके उसकी व्याख्या में अभिनय करना, मूल नाटक में मनमाने ढंग से अनेक प्रसंग अपनी ओर से जोड़ देना, एक अभिनेता द्वारा व्याख्यात्मक अभिनय करते हुए अनेक अभिनेताओं का स्वांग दिखाने लग जाना, पूर्वरंग को विकृत करके प्रस्तुत करना, प्रयोग

के बीच-बीच क्रिया का मिश्रण (जिसकी परिभाषा नटाङ्कुशकार ने यह दी है – वाचिक अभिनय के साथ बिना संवादों के नृत्य का मिश्रण – पाठाङ्कमध्ये क्रियमाणं वस्तुविरहितं विचेष्टितम्।)।

इन सबका खुलासा करके अन्त में *नटाङ्कुश* का लेखक कहता है –

अथवा नेदृशी चर्चा शैलूषैः सह सिद्ध्यति।

इन शैलूषों के साथ तो इस तरह की शास्त्रीय चर्चा करना ही बेकार है।

नटाङ्कुश नाट्यप्रयोक्ताओं के लिए एक शिक्षाग्रन्थ भी है। वस्तुतः नटाङ्कुशकार ने इस ग्रन्थ को चाक्यारों के लिए एक शिक्षाग्रन्थ के रूप में परिकल्पित किया है। बहुत ही पारदर्शी भाषा में उन्होंने नटों द्वारा प्रस्तुति कैसे की जाए इसके लिए निर्देश दिए हैं। उदाहरण के लिए –

विशेषेण प्रयोतृणां प्रबन्धगतिः आश्रयणीया। प्रबन्धानुसारी खलु प्रयोगः नाटके प्रयुज्यते इति व्यवहारदर्शनात्।

त्यक्तं नैव निरीक्ष्यं समुपात्तं श्लाघनीयमतिवेलम्।
कविहृदयमेव नाट्येष्वनुसरणीयं प्रयोगभृताम्॥७३॥

त्यक्तग्रहणं स्वीकृतहानं संक्षिप्तविस्तरोऽन्यत्वम्।
प्रथितस्य चेति दोषाश्चत्वारो नाटकप्रयोगेषु॥७४॥

विशेष रूप से प्रयोक्ताओं को तो प्रबन्ध (मूल नाटक) की स्थिति का ही आश्रय लेना चाहिए। प्रबन्धानुसारी प्रयोग करके ही नाटक खेला जाता है, यह व्यवहार चला आ रहा है। जो छोड़ दिया गया है, उसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए, जिसका ग्रहण किया गया है, उसकी प्रशंसा करनी चाहिए, नाट्यप्रयोग में प्रयोग करने वालों को कवि के हृदय का अनुसरण करना चाहिए। जिसे कवि ने छोड़ दिया, उसे दिखाना, जिसे कवि ने स्वीकार किया उसे छोड़ देना, जिसे कवि ने संक्षिप्त किया, उसका विस्तार करना और जिस प्रसिद्ध वृत्तान्त का कवि ने विस्तार किया उसे संक्षिप्त करना – नाटक के प्रयोग में ये चार दोष होते हैं।

प्राप्त पाण्डुलिपियों का विवरण

न्यू *केटलॉगस केटलॉगोरम्* (pt IX, p. 324, 1977, ed. K. Kunjunni Raja, Madras) में *नटाङ्कुश* की निम्नलिखित पाण्डुलिपियाँ उल्लिखित हैं –

- Killimaṅgalattuman – 49, MT-3003
- Tirupati – 1194
- Trivandrum University – L-946, L-946
- T–1195
- Tripunithura – II-270

यहाँ किल्लीमंगलम् से आशय कोचीन में किल्लीमंगलम् नामक स्थान पर प्राप्त पाण्डुलिपियों के सूची-पत्र से है। एल से आशय राजेन्द्रलाल मित्र द्वारा सम्पादित *Notices of Sanskrit Manuscripts* से है, जो कलकत्ता से १८७१-९० की अवधि में ११ खण्डों में प्रकाशित है। एम॰टी॰ से आशय गवर्नमेण्ट ओरिण्टल मेन्युस्क्रिप्ट लाइब्रेरी, मद्रास में प्राप्त पाण्डुलिपियों के सूची-पत्र से है।

नटाङ्कुश के एकमात्र प्रकाशित संस्करण में इनमें से कितनी पाण्डुलिपियों का उपयोग किया गया है, यह इस संस्करण की भूमिका तथा टिप्पणियों से स्पष्ट नहीं होता। सम्पादक प्रोफेसर के॰जी॰ पालोस ने इस संस्करण में अपनी भूमिका में पाण्डुलिपियों का विवरण नहीं दिया। संस्करण में ग्रन्थ के अन्त में पाठभेद एक साथ सूचित किए गए हैं। इन पाठभेदों में K, M, T, T-1 इन चार पाण्डुलिपियों से पाठभेद सूचित हैं – ऐसा प्रतीत होता है। परन्तु K, M, T, T-1 जिन पाण्डुलिपियों के सूचक हैं, उनका विवरण अपेक्षित था, जो प्रकाशित पुस्तक में अप्राप्य है।

इस संस्करण में समीक्षात्मक टिप्पणियाँ प्रोफेसर एन॰पी॰ उन्नि द्वारा लिखी गई हैं। प्रोफेसर एन॰पी॰ उन्नि ने भी पाण्डुलिपियों का विवरण नहीं दिया है।

प्रस्तुत संस्करण में के॰जी॰ पालोस के द्वारा सम्पादित पुस्तक के साथ निम्नलिखित पाण्डुलिपियों का उपयोग किया गया है

T – त्रिपुनीथुरा संस्कृत महाविद्यालय से प्राप्त प्रति

R – प्रोफेसर राघवन् द्वारा स्वहस्तलिपि में तैयार की गई प्रति। प्रोफेसर राघवन् ने भी अपनी प्रति के साथ मूल पाण्डुलिपि का परिचय नहीं दिया है। मिलान करने पर प्रतीत होता है कि यह प्रोफेसर के॰जी॰ पालोस के द्वारा उपयुक्त K-पाण्डुलिपि हो सकती है।

नटाङ्कुश – विषय-वस्तु

ग्रन्थारम्भ में नटाङ्कुशकार ने भारती या सरस्वती की भावपूर्ण वन्दना करने के पश्चात् नाट्यविद्या का माहात्म्य प्रतिपादित किया है। फिर नटों (कूडियाट्टम् करने वाले चाक्यारों) की निन्दा करते हुए वे कहते हैं कि इस विद्या को अच्छी तरह जाने बिना ये नट वृथा गर्व करते रहते हैं कि नाट्य के प्रयोग में हम ही पण्डित हैं, और ये भोले-भाले लोग हमारे प्रयोग को नहीं जानते। इनकी प्रस्तुति में *आश्चर्यचूड़ामणि* के मन्त्राङ्क को लेकर बड़ा सन्देह होता है। मन्त्राङ्क में हनुमान् के पात्र का अभिनय करने वाला नट क्रिया या नृत्य के बीच में करने लगता है। प्रथम अंकुश के अन्तर्गत क्रियानृत्यखण्डनम् का प्रकरण है। कूडियाट्टम् में जिसे क्रिया कहा गया है उसकी कटु समीक्षा की गई है। पूर्वपक्षी की ओर से चार पक्षों की कल्पना ग्रन्थकार ने की है, और चारों का क्रमशः खण्डन किया है। चाक्यारों द्वारा नाट्य की प्रस्तुति के बीच में क्रिया या नृत्य के समावेश को ग्रन्थकार अनुचित मानते हैं। क्रिया के समावेश को उचित ठहराने के लिए चाक्यारों की ओर से चार तर्क दिए जा सकते हैं –

१. क्रिया कथा शरीर का एक भाग है,

२. यह देवता की प्रीति का साधन है,

३. यह अनुकार्य (मूल पात्र) की स्वाभाविक चेष्टा है, तथा

४. कथा के अभिनय के अंग को प्रस्तुत करने वाला एक नृत्य है।

ग्रन्थकार चारों का खण्डन करते हुए कहता है कि इन चारों में से यह क्या है, यह निर्धारित नहीं हो पाता। क्रिया नृत्य में कोई कथा उपलब्ध नहीं होती जिस प्रकार पराजित हुए वादी को शब्द नहीं छू पाते उसी प्रकार सामाजिकों द्वारा देखी जाने वाली कथा को यह क्रिया छूती भी नहीं है। क्रिया से ही देवता

प्रसन्न होते हैं यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि वास्तव में तो सम्पूर्ण नाट्य से ही देवता की प्रीति प्राप्त होती है। इसके साथ ग्रन्थकार विचार करते हैं कि क्या *आश्चर्य चूड़ामणि* नाटक के विविध प्रसंगों में नृत्य का प्रयोग अपेक्षित है? वे चाक्यारों के इस कथन का खण्डन करते हैं कि क्रिया अनुकार्य की स्वाभाविक चेष्टा है। अनुकार्य हनुमान् है, वे सीता का अन्वेषण कर रहे हैं, अन्वेषण का कार्य छोड़कर बीच में ही वे नृत्य क्यों करने लग जाएंगे? इसी प्रकार क्रिया अभिनय का भी अंग नहीं बन सकी।

इसके अनन्तर प्रथम अंकुश में चाक्यार की ओर से क्रिया या नृत्य को नाट्यप्रस्तुति का अनिवार्य अंग बताने हेतु हनुमान् द्वारा सीता की खोज के समय उनका अभिनय करने वाले नट द्वारा क्रिया के सम्पादन को युक्तिसंगत ठहराने के लिए जितने तर्क दिए जा सकते हैं, उन सबकी कल्पना करके उनका खण्डन करते हैं। चाक्यार कहता है कि नृत्य नाट्य में शोभाजनक होता है इसलिए मध्य में हम नृत्य करा देते हैं, ग्रन्थकार का कहना है कि नृत्य के लिए कोई प्रसंग या उचित अवसर होना चाहिए। इसी प्रकार वे इस पक्ष का भी खण्डन करते हैं कि नृत्य प्रेक्षक के संस्कार के लिए होता है।

द्वितीय अंकुश में नटाङ्कुशकार ने पूर्वपक्षी के इस मत का खण्डन विस्तार से किया है कि क्रिया या नृत्य पूर्वरंग का अंग हो सकता है। क्रिया और पूर्वरंग सर्वथा भिन्न हैं क्योंकि क्रिया अनियतभावी है, पूर्वरंग नियतभावी। पूर्वपक्षी पुनः तर्क देता है कि नृत्य वेश और भाषा आदि के समान नाट्य का अंग हो सकता है। ग्रन्थकार स्थापना देते हैं कि नृत्य वेश और भाषा से अलग है। उनका पक्ष है कि पूर्वरंग तथा वेश, भाषा आदि सप्रयोजन हैं, नृत्य निष्प्रयोजन। पूर्वपक्षी इस पर तर्क देता है कि क्रिया के कारण की गवेषणा निरर्थक है। इस मत की अग्राह्यता बताकर ग्रन्थकार क्रिया या नृत्य जोड़ने के लिए भरतमुनि का वचन प्रामाण्य है – इस पक्ष का खण्डन करते हुए *नाट्यशास्त्र* से समीचीन कारिकाएँ उद्धृत करते हैं। न्यायदर्शन के सिद्धातों का आश्रय लेकर वे नृत्यक्रिया की साध्यता में हेत्वाभासों का प्रदर्शन भी करते हैं। आचार की स्मृतिमूलकता में स्मृति का प्रत्यक्ष होना आवश्यक है तथा प्रचलित आचरण के मूल में आगम प्रमाण होना आवश्यक है। इन सिद्धान्तों के आधार पर नृत्य की स्मृतिमूलकता और प्रत्यक्ष प्रमाण से उसकी सिद्धि नहीं होती। इस पर पूर्वपक्षी तर्क करता है कि जिसका निषेध नहीं किया गया वह मान्य होगा। इस पर नटाङ्कुशकार का कहना है कि अनुक्त के ग्रहण में आगम की निरर्थकता की आपत्ति आ जाती है। वे पुनः मीमांसा दर्शन तथा काव्यशास्त्र के अपने ज्ञान का उपयोग करते हुए "विषं भक्षय" इस वाक्य में अप्रतिषिद्ध के अनुमत होने का खण्डन करते हैं। इसलिए प्रयोग के विषय में ही सिद्धान्त मान्य होना चाहिए कि जो शास्त्र में उक्त है, उससे स्वयंसिद्ध होने वाली बातों का ग्रहण उचित है। अनुक्तपरिग्रह पर पूर्वपक्ष की ओर से पुनः उठने वाली शंका तथा उसका समाधान भी वे करते हैं। सार यह है कि क्रिया को नाट्यप्रयोग में जोड़ने के विषय में कोई युक्ति या तर्क होना चाहिए, जो चाक्यार प्रस्तुत नहीं कर पा रहे।

तृतीय अंकुश में क्रियानृत्य के समावेश के अनौचित्य के प्रकरण का समापन किया गया है। ग्रन्थकार का प्रश्न है कि क्रिया को नाट्य में सम्मिलित करने पर क्या सहृदयों की सम्मति है? क्रिया के नाट्य में सम्मिलित करने के विषय में आप्त वचन प्रमाण है, ऐसा प्रमाण वास्तव में नहीं है। संवाद बोलते-बोलते नट नृत्य करने लग जाता है। तब उसके संवाद और नृत्यक्रिया में तारतम्य और परस्पर सम्बन्ध होना चाहिए। यहाँ हनुमान् के पात्र द्वारा नृत्य दिखाने में ऐसा तारतम्य और सम्बन्ध नहीं है। इसलिए क्रिया त्रिशंकु के समान अनावश्यक है। चाक्यार का कहना है कि पूर्व वृत्तान्तों का अभिनय क्रिया में कराया

जाता है, जो कि आवश्यक है। ग्रन्थकार कहते हैं कि पूर्व वृत्तान्त प्रेक्षकों को विदित हैं, अतः उनका कथन अनावश्यक है। वे नृत्य के लिए क्रिया – इस संज्ञा के सम्बन्ध में भी आक्षेप करते हैं। इन सभी तर्कों द्वारा नटाङ्कुशकार स्थापित करते हैं कि *आश्चर्यचूड़ामणि* के अभिनय में बीच-बीच नृत्य या क्रिया को जोड़ना सर्वथा अनपेक्षित और अनावश्यक है।

चतुर्थ अंकुश में *आश्चर्यचूड़ामणि* नाटक के ही अङ्गुलीयकाङ्क में अभिनय की दृष्टि से चाक्यारों द्वारा किए जाने वाले अनौचित्य की समीक्षा है। इस अंक में भी जो क्रिया जोड़ी जाती है, उसके पौर्वापर्य के विषय में चाक्यारों को स्वयं मतिभ्रम है। जिन पूर्व वृत्तान्तों को दिखाने के लिए क्रिया जोड़ी जाती है, वे पूर्व वृत्तान्त सर्वविदित हैं। इनका अभिनय करने पर अनवस्था भी होती है तथा मुख्य वृत्तान्त की उपेक्षा हो जाती है। ग्रन्थकार चाक्यारों द्वारा मूल नाटक तथा उसके पाठ की अवहेलना की कड़ी भर्त्सना करते हैं। चाक्यारों द्वारा सिद्ध का ग्रहण तथा असिद्ध की उपेक्षा की जाती है। वे पूर्वसम्बन्ध नाम से एक अभिप्राय का प्रयोग अभिनय में करते हैं, जिसमें आगे दिखाए जाने वाले वृत्तान्तों का पिछले वृत्तान्तों से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए स्मृतिदृश्यों का आधुनिक फ्लैशबेक की तकनीक से अभिनय किया जाता है। नटाङ्कुशकार ने पूर्वसम्बन्ध की समीक्षा की है।

सिद्धान्त की दृष्टि से नटाङ्कुशकार ने प्रश्न उठाया है कि नट आत्मभाव में स्थित रहकर अभिनय करता है या परभाव में स्थित रहकर? दोनों में विवेक न कर पाने को उन्होंने अस्मदर्थवैधुर्य कहा है। अस्मदर्थवैधुर्य के कारण अभिनय करते समय नट के आत्मभाव और परभाव में विवेक किया जाना चाहिए। नट द्वारा स्वाभिनीत पात्र के अतिरिक्त दूसरे पात्र का अभिनय करने लग जाने पर वे आपत्ति करते हैं। एक नट अनेक पात्रों की भूमिका एक साथ कैसे कर सकता है? चाक्यार का तर्क है कि एक नट द्वारा अनेक भूमिकाएँ एक साथ किया जाना आसाधारण कौशल है। नटाङ्कुशकार प्रश्न उठाते हैं कि विकल अभिनय में कौशल है या अविकल अभिनय में? अपनी भूमिका छोड़कर दूसरी भूमिका करने लग जाना तो विकल नटन है। एक नट द्वारा अनेक भूमिकाएँ करना *नाट्यशास्त्र* सम्मत है – पूर्वपक्षी के इस कथन का वे निराकरण करते हैं। हनुमान् की भूमिका करते हुए नट का सीता का अनुकरण करने लग जाना और आँचल पकड़ना कितना हास्यास्पद है – इस पर आक्षेप करते हुए वे कहते हैं कि नाट्याभिनय में अनेक भूमिकाओं को एक साथ मिलाना अनार्यत्व है।

पूर्वपक्षी की ओर से यह दलील दी जा सकती है कि एक नट द्वारा अनेक भूमिकाओं का ग्हण नृत्त या नृत्य माना जा सकता है। नर्तकी या नर्तक नृत्य में अनेक पात्रों का नृत्य एक साथ कर सकते हैं या अनेक पात्रों का अभिनय उसके साथ वे करते जाते हैं। इसका खण्डन करते हुए नटाङ्कुशकार कहता है कि अलग भूमिकाओं के लिए अलग-अलग ही अभिनेता होने चाहिए। अनेक भूमिकाएँ करने पर अनुकर्ता कौन होगा – यह आपत्ति आती है। यदि अनुकार्य और परामृश्य में अन्तर माने बिना दोनों को सम्मिश्रित कर दिया जाएगा तो भावाभिनय नहीं हो सकेगा, क्योंकि भावाभिनय में एक अभिनेता एक भूमिका ही कर सकता है, अनेक नहीं। एक पात्र का भावाभिनय एक अभिनेता द्वारा ही किया जाना आवश्यक है। चाक्यार अनुकार्य (कथा का पात्र) और अनुकर्ता (नट) का भेद भी भूल जाते हैं, नट हनुमान् का अनुकर्ता है, उस पर राम आदि पात्रों का आरोपण नहीं किया जा सकता, उससे अनवस्था होगी। आरोप्यमाण द्वारा आरोपणविषय को तिरोहित कर दिया जाता है। इससे नट नट के रूप में दृश्य नहीं रह जाएगा।

नटाङ्कुशकार के इस मत पर पूर्वपक्षी यह कह सकता है कि हनुमान् का अभिनय करने वाला पात्र अन्य पात्रों का परामर्श करता है अभिनय नहीं। परामर्श अनुपकरण नहीं है। इस पर नटाङ्कुशकार कहता है कि नट सीता की तरह वस्त्र का आँचल क्यों ग्रहण करता है। यह वेश या आहार्य के विरुद्ध अनुकरण है।

इसी अंकुश में चाक्यारों के द्वारा नाट्यशास्त्रोक्त विधियों के अनेक प्रकार से उल्लंघन पर भी ग्रन्थकार ने आक्षेप किया है। चाक्यार एक ही बात को कई बार कई तरह से दोहराकर जो पुनरावृत्ति करते हैं, वह दोष है। विदित कथा को वे बीच-बीच में फिर बताने लगते हैं।

शूर्पणखा के केवल नाक और कान काटे जाने चाहिए। चाक्यार उसके स्तन काटते हुए भी लक्ष्मण को दिखाते हैं, जो अत्यन्त अनुचित है।

पञ्चम् अङ्कुश में *प्रतिज्ञायौगन्धरायण* के मन्त्राङ्क के अभिनय की समीक्षा है। ग्रन्थकार ने इसमें प्राकृत भाषा के संवाद प्राकृत में न बोलकर उन्हें मलयालम् भाषा में कहलवाने पर आपत्ति की है। धर्मशास्त्र के विधि-विधानों का विस्तार से उल्लेख करते हुए वे वेश्या के साथ चाक्यारों द्वारा ब्राह्मण के सम्बन्ध को दिखाने पर कड़ी आपत्ति करते हैं। इसी प्रकार इस नाटक के अभिनय में चाक्यार राजनीति की विस्तार से शिक्षा देने लगते हैं, जिसका कोई प्रसंग भास के नाटक में नहीं है। विदूषक वसन्तक बीच में वैद्यों की निन्दा पर प्रवचन देने लगता है यह भी अकाण्डप्रथन दोष है। मूल नाटक में जो प्रसंग नहीं हैं, मनमाने ढंग से उन्हें नाटक में अपनी ओर से जोड़कर उनका अभिनय करने लग जाना – चाक्यारों की इस प्रवृत्ति की ग्रन्थकार ने आलोचना की है। इसकी तरह के अन्य अनेक प्रसंग वे मनमानी करके जोड़ लेते हैं। इसी नाटक में जहाँ रुमण्वान् को मंच पर होना चाहिए, वहाँ वह अनुपस्थित है। चाक्यार की ओर से कहा जा सकता है कि रुमण्वान् की उपस्थिति जिन प्रसंगों में अपेक्षित नहीं है, वहाँ हम उसे मंच पर नहीं दिखाते। ग्रन्थकार कहते हैं कि नाटककार ने उसका निर्गमन सूचित नहीं किया है, इन प्रसंगों में रुमण्वान् का मंच पर होना नाटक की आवश्यकता है।

षष्ठ अङ्कुश में इसी आलोचना को आगे बढ़ाते हुए नाटककार चाक्यारों के अभिनय में नाटककार द्वारा प्रविष्ट सूचित पात्रों को प्रवेश न कराने को अनुचित बताते हैं। *आश्चर्यचूड़ामणि* में जहाँ सीता के पात्र का अभिनय है, वहाँ उसका अभिनय दिखाया नहीं और जहाँ सीता का अभिनय है ही नहीं, वहाँ हनुमान् के पात्र से उसका अभिनय करा दिया जाता है। संगीत देने वाले गायक वादकों की मण्डली में से किसी गायिका के द्वारा पात्र बनकर उस पात्र का गीत गाने लग जाने को वे अनुचित बताते हैं।

सीता के प्रवेश न कराने की अपत्ति को लेकर चाक्यार यह सफाई दे सकता है कि सीता अयोनिजा है, और अयोनिजा का प्रवेश मंच पर नहीं कराया जाता। इस पर नटाङ्कुशकार चाक्यारों द्वारा ही प्रस्तुत किए जाने वाले अन्य नाटकों से उदाहरण देकर बताते हैं कि वहाँ अयोनिजा स्त्रियों का अभिनय कैसे करा दिया गया?

चाक्यारों की प्रस्तुति में शास्त्र-विरोध दिखाते हुए अन्त में सप्तम अङ्कुश में ग्रन्थकार उन्हें परामर्श देते हैं कि नाट्यशास्त्र के विधि-विधानों का पालन करते हुए ही वे अपने प्रयोग करें, जिससे अव्यवस्था न हो।

प्रतिपादन शैली

नटाङ्कुशकार ने विषय-प्रतिपादन में प्रखर तार्किक की शैली का आश्रय लिया है। पूरा ग्रन्थ आद्यन्त पूर्वपक्ष

और उसके खण्डन में उत्तरपक्ष की प्रस्तुति में अन्तर्गुम्फित है। कहीं-कहीं तो एक ही प्रघट्टक में एक वाक्य पूर्वपक्षी के कथन का और अगला वाक्य उत्तरपक्षी के कथन का इस तरह समवेत हो गया है कि अनेकत्र कौन सा वाक्य पूर्वपक्षी का है और कौन सा उत्तरपक्षी का यह पहचानना कठिन हो जाता है, परन्तु ग्रन्थकार के विचारों की सुस्पष्टता और शास्त्रावबोध इस पहचान को स्पष्ट करता चलता है। एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत है। *प्रतिज्ञायौगन्धरायण* के अङ्क की प्रस्तुति में पिछले वृत्तान्तों का अभिनय दिखाना अनावश्यक है – यह सिद्धान्त पक्ष है। इसके पूर्वपक्ष तथा अपने पक्ष की प्रस्तुति ग्रन्थकार ने इस प्रकार की है –

> ननु सामाजिकानां कथावबोधे साध्ये पुराणाकर्णनमेवालं भवति। मैवं वादीः। पूर्वमेवावबुद्धा कथा तर्हि किमत्र साध्यम् इति चेत् कथापुरुषस्य रामादेः समवस्थादर्शनम् इति गृह्यताम्। समतीतरामाद्यवस्था कथमिदानीं दृश्या इति चेद् अनुकरणेन दृश्या भवति। तर्हि तदेवालं, किं गीतवादित्रप्रकारेण इति चेत्, मैवं, गीतादिरहितनाट्यानुपपत्तेः। यदुक्तं –
>
> अनुभावविभावानां वर्णना काव्यमुच्यते।
> तेषामेव प्रयोगस्तु नाट्यं गीतादिरञ्जितम्॥[१]
>
> इति। यत्पुनः वाचिकाभिनयगृहीतौ आतोद्यध्वानमन्दीकरणं तत् सभास्ताराणां सम्यक् तदाकर्णनार्थम्। अत एव आह
>
> यत्राभिनेयं गीतं स्यात् तत्र वाद्यं न योजयेत्। इति।
> प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां प्रशस्तं मध्यमं भवेत्॥

पूर्वपक्षी कहता है – सामाजिकों को कथा का बोध कराने के लिए तो पहले की कथा सुनना ही पर्याप्त होता है।

उत्तरपक्षी का कहना है – ऐसा मत कहो। यदि कथा पहले ही समझ ली, तो फिर इसमें साध्य क्या रहा? – (पूर्वपक्षी इसके उत्तर में कहता है) – यदि यह पूछो तो हम कहेंगे कि राम आदि कथापुरुष पात्रों की अवस्था का अवलोकन ही साध्य मान लो। यदि पूछो कि अतीत के राम आदि पात्रों की अवस्थाएँ आज के वर्तमान में प्रत्यक्ष कैसे हो सकती हैं, तो उत्तर है – अनुकरण से प्रत्यक्ष हो सकती हैं।

(इस पर उत्तरपक्षी फिर आक्षेप करता है) फिर तो अनुकरण ही पर्याप्त है गायन, वादन, आदि विधाओं की क्या आवश्यकता?

पूर्वपक्षी – गीत आदि से रहित तो नाट्य ही नहीं हो सकता। जैसा कि कहा है – अनुभावों और विभावों का वर्णन काव्य है। गीत आदि से रंजित उन्हीं का प्रयोग नाट्य है।

नटाङ्कुशकार का पाण्डित्य

प्रथम मंगल पद्य से ही ग्रन्थकार का वेद, वेदान्त तथा संगीतशास्त्र में अभिनिवेश स्पष्ट सूचित होता है। वे वास्तव में सकल शास्त्रविशारद हैं। नाट्यशास्त्र और काव्यशास्त्र तथा व्याकरण के प्रकाण्ड पण्डित होने के साथ न्याय, मीमांसा, व्याकरण में भी उनकी असाधारण गति है।

---

[१] *व्यक्तिविवेके* १.२५।

काव्यशास्त्र का ज्ञान – *आश्चर्यचूड़ामणि* नाटक में "मैनाकं नागकन्या" इत्यादि श्लोक के पहले गद्यबद्ध संवाद में "सम्प्रति हि" – यह आधा वाक्य है। पूर्वपक्षी का कथन है कि "सम्प्रति हि" – इस कथन से क्रियानृत्य किया जाए यह अर्थ द्योतित होता है। ग्रन्थकार की आपत्ति है कि "सम्प्रति हि" इस आधे वाक्य से क्रियानृत्यपरक अर्थ कैसे लिया जा सकता है? यह वाक्यांश क्रियानृत्य किया जाए ऐसा आशय न तो अभिधा से बता सकता है, न लक्षणा से, न व्यञ्जना से ही। इस सम्बन्ध में वे (काव्यप्रकाशकार मम्मट के विवेचन को आधार बनाते हैं। *काव्यप्रकाश* के द्वितीय उल्लास में बताया गया है "गङ्गायां घोषः" (गंगा नदी के ऊपर ग्वालों की बस्ती है) इस वाक्य के मुख्य या साक्षात् संकेतित अर्थ का बोध हो जाता है क्योंकि नदी के प्रवाह पर बस्ती नहीं हो सकती। तब प्रयोजन विशेष रूप से उससे सम्बन्धित गंगा के किनारे ग्वालों की बस्ती है – लक्षणा से लिया जाता है। प्रयोजन विशेष शैत्य, पावनत्व आदि उस बस्ती के धर्मों या विशेषताओं की प्रतीति कराना है। प्रयोजन की यह प्रतीति व्यञ्जना से ही होती है। मम्मट पूर्वपक्षी के इस मत का खण्डन करते हैं कि प्रयोजन की प्रतीति अभिधा से हो सकती है या लक्षणा से हो सकती है। अभिधा साक्षात् संकेतित अर्थ का ही बोध कराती है और "गङ्गायां" इस पद से गङ्गातटे यह अर्थ साक्षात् संकेतित नहीं होता। यदि पूर्वपक्षी कहे कि लक्षणा से इस अर्थ का बोध हो सकता है, तो यह कथन भी उचित नहीं है, क्योंकि लक्षणा मुख्यार्थबोध, मुख्यार्थयोग तथा रूढ़ि या प्रयोजन इन तीन हेतुओं पर आश्रित है और ये तीनों हेतु यहाँ लागू नहीं हो रहे। पूर्वपक्षी यदि फिर कहे कि प्रयोजन को भी लक्ष्यार्थ का ही अंग मानकर लक्षणा से इसकी प्रतीति कराई जा सकती है। तब सिद्धान्तपक्षी कहता है कि यदि शैत्य-पावनत्व-रूप प्रयोजन को लक्ष्यार्थ से विदित मान लिया जाएगा, तो इस द्वितीय लक्षणा के लिए फिर एक प्रयोजन मानना पड़ेगा, उसके लिए फिर तीसरी लक्षणा करनी पड़ेगी, इस तीसरी लक्षणा का फिर एक प्रयोजन बताना पड़ेगा, और उसके प्रयोजन की प्रतीति के लिए चौथी लक्षणा करनी पड़ेगी। इस तरह लक्षणाओं की अनन्त शृंखला बनती चली जाएगी। शास्त्र में इसे आनन्त्य दोष कहा जाता है। नटाङ्कुशकार ने यहाँ मम्मट के *काव्यप्रकाश* की शब्दावली ही दोहरा दी है, जिससे विदित होता है उन्होंने काव्यशास्त्र का गहरा अध्ययन किया था।

चाक्यारों की प्रस्तुति में मम्मटप्रतिपादित अकाण्डप्रथन, अंग की अतिविस्तृति, अंगी का अनसन्धान आदि रस दोषों का निदर्शन नटाङ्कुशकार ने समीचीन रूप में किया है। मम्मट का अनुगमन करते हुए रस को वे मुख्यार्थ कहते हैं। अनावश्यक विस्तार, मनमाने संवादों को जोड़ना, प्रवेश्य पात्र का प्रवेश न दिखाना, अप्रवेश्य का प्रवेश दिखाना आदि द्वारा रस की क्षति प्रस्तुति में जहाँ-जहाँ होती है, उसका *आश्चर्यचूड़ामणि* तथा *प्रतिज्ञायौगन्धरायण* की चाक्यारों द्वारा की जाने वाली प्रस्तुतियों से उदाहरण प्रस्तुत करते हुए सटीक विवेचन ग्रन्थकार करते हैं।

व्याकरणशास्त्र का ज्ञान – *नटाङ्कुश* के प्रणेता का व्याकरण ज्ञान इस ग्रन्थ में स्थल-स्थल पर परिलक्षित होता है। वे नटों को चेतावनी देते हुए कहते हैं कि नटों को वार्तिककार नहीं बनना चाहिए, उन्हें प्रयोक्ता ही बने रहना चाहिए। शास्त्र में जो स्थित या सिद्धान्तित है, उसका ग्रहण जो करे वह प्रयोक्ता है। पाणिनि-व्याकरण की स्थिति भिन्न है, उस पर वार्तिक आवश्यक है। इसके उदाहरण में नटाङ्कुशकार कहते हैं कि पाणिनि ने आत्मनेपद के विधान में *उपसर्गादस्यत्यूहयोर्वा वचनम्* इत्यादि नहीं कहा। अतः वहाँ वार्तिककार कात्यायन ने *उपसर्गादस्यत्यूहयोर्वा वचनम्* यह वार्तिक जोड़ा, वह ठीक है। और फिर मूल ग्रन्थकार

(पाणिनि) के लिए जो प्रमाण है, वही वार्तिककार (कात्यायन) के लिए भी कमी या अधिकता की समझ के लिए प्रमाण है। उदाहरणार्थ *सङ्गच्छते* इत्यादि को लक्ष्य करके पाणिनि ने *समो गम्यृच्छि*[२] इत्यादि सूत्र रचा। उसी तरह, *समस्यते, समूहते* इत्यादि क्रियापदों को लक्षित कर वार्तिककार ने *उपसर्गात्* इत्यादि वार्तिक बनाया। नाटक में नृत्यक्रिया जोड़ने के प्रसंग में यह बात लागू नहीं होती। नाटक खेलने वालों के लिये (भरत) मुनि का वचन मूल है। प्रयोक्ता नट द्वारा इस नृत्यक्रिया को स्वीकार करने में मुनि का कोई भी वचन मूल रूप में उपलब्ध नहीं होता, क्योंकि (उनका) ऐसा कोई वचन है ही नहीं।

चतुर्थ अंकुश के आठवें प्रकरण में माघ का श्लोक सटीक रूप से उद्धृत किया गया है। माघ का नाम न लेकर उनकी उपाधि घण्टाकवि के नाम से *शिशुपालवध* से वे पद्य उद्धृत करते हैं।

समकालीन रंगमंच से परिचय

नटाङ्कुशकार की नाट्यप्रयोग में गहरी रुचि थी – यह इस सम्पूर्ण ग्रन्थ से प्रमाणित होता है। विशेष रूप से कूडियाट्टम् के प्रयोगों को तो उन्होंने सूक्ष्म दृष्टि देखा ही होगा। कूडियाट्टम् के प्रयोक्ता चाक्यारों के रहन-सहन, वेशभूषा और दिनचर्या तक से वे परिचित प्रतीत होते हैं। प्रथम अंकुश के आठवें मंगलपद्य में वे कहते हैं –

> तद्युक्तं यदेतेषां गृहगानतया स्थिते।
> अङ्गुलीयकाङ्क एवादौ संशयाः सन्ति मादृशाम्॥

इन चाक्यारों का गर्व वृथा है, क्योंकि मेरे जैसे लोगों को इनके घर-घर में गाए जाने वाले अङ्गुलीयकाङ्क में ही सन्देह है।

इससे स्पष्ट है कि चाक्यार भास के नाटकों का सम्यक् अभ्यास अपने घरों में करते रहते हैं – यह तथ्य नटाङ्कुशकार को विदित है।

इसी प्रकार भास के *प्रतिज्ञायौगन्धरायण* नाटक के विभिन्न अंकों के अभिनय के विषय में भी उन्हें प्रामाणिक ज्ञान है और इस नाटक का अभिनय जिस तरह चाक्यार उनके समय में करते थे, उसकी उन्होंने पूर्वपक्ष के रूप में समीक्षा प्रकृत ग्रन्थ में की है।

नाट्यविषयक दृष्टि

नटाङ्कुशकार वस्तु, नेता तथा रस – इन तीन को नाट्य के मूल तत्त्व मानते हैं। इनमें भी रस सर्वप्रमुख तथा परिणति में प्राप्य तत्त्व है। नट कथा का अभिनय करते हुए मंच पर पात्रों को प्रकट कर देता है, जिससे प्रेक्षक को रसानुभूति होती है। नटाङ्कुशकार तन्मयीभवन का सौन्दर्यशास्त्र रचते हैं, चाक्यार पार्थक्य का।

भरतमुनि के प्रति उनकी अकम्प्य आस्था है। मङ्गलाचरण पद्यों में चतुर्थ पद्य में वे भरतमुनि को नमन करते हुए कहते हैं कि उनकी कला के कारण ही देवराज इन्द्र स्वर्ग में रमते रहते हैं। नाट्यविद्या के प्रति उनके मन में बड़ी आस्था है। वे इस विद्या को भारती के सुन्दर मुखचन्द्र की स्मितचन्द्रिका बताते हैं (मङ्गलपद्य ३)।

---

[२] समो गम्यृच्छिप्रच्छिस्वरत्यर्तिश्रुविदिभ्यः। – *अष्टाध्यायी* १.३.२९

नृत्य नाट्य में समवेत है या यथाप्रसंग जोड़ा जाए यह प्रश्न है। चाक्यार जो लोकरुचि का ध्यान रखकर बिना प्रसंग के नृत्य जोड़ देते हैं, इस पर उन्होंने घोर आपत्ति की है। वे नाट्य को नृत्य में बदल देने के पक्ष में नहीं है। ऐसा करने पर नाट्य का अपना स्वभाव – आंगिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य अभिनयों से समन्वित लोकवृत्तानुकरण ही नष्ट हो जाएगा और नाट्य के निजी स्वरूप की क्षति होगी। इसलिए नृत्यक्रिया को नाट्य का स्वभाव नहीं, विकार ही माना जाना चाहिए। विकारस्वरूप भी यदि नृत्य या क्रिया नाट्य की प्रस्तुति में जोड़ी जाए, तो उसकी कोई संगति होनी चाहिए। चाक्यार जिस प्रकार सीतान्वेषण के प्रसंगों में नृत्य जोड़ देते हैं उसमें कोई संगति नहीं है।

नटाङ्कुशकार की दूसरी आपत्ति, एक अभिनेता द्वारा अपनी भूमिका छोड़कर अन्य पात्र का अभिनय करने लग जाना, है।

प्रथम अंकुश में वे अनुकार्य और अनुकर्ता के सम्बन्ध को बताते हुए कहते हैं कि नाट्याभिनय में अभिनेता पात्र में अपने आप को संक्रान्त कर देता है, उस समय उनकी नट के रूप में पहचान नहीं रह जाती, क्योंकि नट का तो निगरण हनुमद्भाव में हो चुका। अतः हनुमान् के पात्र का अभिनय करने वाले नट से बीच में देवताप्रीत्यर्थ क्रिया या नान्दी नाट्यप्रयोग के मध्य में कराना अनुचित है।

हनुमान् का अभिनय करने वाला अभिनेता सीता की खोज के प्रसंग को दिखा रहा है। इसमें वह बीच-बीच में कभी सीता का अभिनय करने लगता है, कभी राम का। ग्रन्थकार कहते हैं कि उसने आहार्य तो हनुमान् का धारण कर रखा है। प्रेक्षक उसे हनुमान् के रूप में ही देख रहे हैं, अतः उस पात्र में राम की उस अवस्था के बिना हनुमान् की ही प्रतीति होती रहती है। वे चाक्यारों में एक अभिनेता द्वारा एक साथ अनेक भूमिकाओं के निर्वाह के प्रयास को हास्यास्पद बताते हुए कहते हैं –

> जिसकी अवस्था दिखाना है, वह है नहीं, फिर भी उसकी अवस्था दिखाने की इच्छा वाला अतिपण्डित (नट) खोए हुए रत्न की कान्ति क्यों नहीं दिखा देता? परामृश्य के अभिनय में अपना वेश छोड़े बिना अन्य पात्र की अवस्था यदि आप प्रकट कर सकते हैं, तो आपकी जय हो।

नटाङ्कुशकार अभिनेता की दृष्टि से भूमिका के दो प्रकार बताते हैं – अनुकार्य और परामृश्य। इनमें जिसका प्रवेश बता दिया गया है वह अनुकार्य है, और जिसका प्रवेश अभी नहीं बताया, वह परामृश्य है। दोनों अलग-अलग स्थल पर व्यवस्थित हैं। अनुकार्य कभी-कभी परामृश्य भी बनता है। वह अन्य भी हो जाता है। *आश्चर्यचूड़ामणि* नाटक के अंगुलीयकांक में हनुमान् अनुकार्य हैं, क्योंकि इस अंक में उनका प्रवेश कहा गया है।

अनुकार्य का अनुकरण किया जाता है और परामृश्य के विषय में सूचना दी जाती है। अभिनेता जिसकी भूमिका करता है, उसका अभिनय करता है, तब वह अनुकर्ता और भूमिका जिस पात्र की है वह पात्र अनुकार्य कहा जाता है। अनुकार्य का अभिनय करता हुआ कोई नट अन्य पात्र का परामर्श या विचार करने लगता है, तब वह अन्य पात्र परामृश्य हो जाता है। अभिनेता अनुकार्य का अभिनय करता हुआ परामृश्य पात्रों के बारे में सूचना देता है। हनुमान् का अभिनय करने वाला अभिनेता अशोक वाटिका में स्थित सीता के विषय में या राम के विषय में सूचना देता चलता है। तब सीता या राम परामृश्य हैं, अनुकार्य नहीं। अर्थात् हनुमान् का अभिनय करने वाले अभिनेता को उनका अभिनय नहीं करना

चाहिए, उसे हनुमान् की भूमिका में ही रहना चाहिए और सीता या राम के विषय में चर्चा मात्र करनी चाहिए। नटाङ्कुशकार का चाक्यारों की पद्धति पर आक्षेप है कि ये लोग अनुकार्य और परामृश्य में अन्तर नहीं रखते। अनुकार्य और परामृश्य में अन्तर स्पष्ट करते हुए नटाङ्कुशकार ने अभिनय की पद्धतियों पर बारीकी से विचार किया है। वे कहते हैं कि परामर्श का अर्थ है बोध। परामृश्य मंच पर दृश्य नहीं रहता। वह अनुकार्य द्वारा सूचित होता है। ऐसा परामृश्य दो प्रकार का होता है – प्रत्यक्ष और परोक्ष। अनुकार्य द्वारा नेत्र आदि का विषय बनने वाला परामृश्य प्रत्यक्ष है। परोक्ष उसकी स्मृति का विषय होता है। प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों ही प्रकार का परामृश्य सुख, दुःख आदि का कारण बनता है। उसका विचार करने पर नट के नयनविकास आदि भाव उत्पन्न होते हैं। हनुमान् अपने सामने अशोक वाटिका को प्रत्यक्ष देख रहे हैं और अपने संवाद में उसका वर्णन करते हैं। यह प्रत्यक्ष परामृश्य का उदाहरण है। परोक्ष परामृश्य में हनुमान् राम, सुग्रीव आदि का स्मरण करते हैं कि कैसे मैं उनके आदेश से सीता के अन्वेषण के लिए आया। यहाँ राम और सुग्रीव आदि परोक्ष परामृश्य हैं। हनुमान् का अभिनय करने वाले चाक्यार को उनका अभिनय करके नहीं बताना चाहिए, जबकि वह उनका भी अभिनय हनुमान् के अभिनय के साथ करने लगता है। जहाँ-जहाँ परामृश्य को बताना हो, वहाँ-वहाँ उसकी वाचिक सूचना देना उचित है, न कि उसका आंगिक, आहार्य और सात्त्विक अभिनय द्वारा अभिनय करने लग जाना। इसके उदाहरण नटाङ्कुशकार ने *आश्चर्यचूड़ामणि* नाटक से दिए हैं। "ततः तदुपदेशात् लङ्घितो महार्णवः प्राप्तमिदमुद्यानम् (फिर उनके उपदेश से महासागर लाँघा, और इस उद्यान में आ गया)" – इत्यादि हनुमान् का संवाद, अथवा – "ततः सुधीरोऽपि देवो रामः सागर इव कारणबलादधीरतां प्राप्तः (तब धैर्यशाली होते हुए भी देव राम सागर के समान कारणवश अधीर हो बैठे)", इत्यादि संवाद। या "रक्षोवधाद्विरतकर्म विसृज्य चापम् (राक्षसों का वध करने के कारण कर्म से विरत होकर धनुष को विसर्जित करके)", इत्यादि संवाद। इन संवादों को बोलते हुए हनुमान् का अभिनय करने वाला नट राम का अभिनय करके दिखाने लगता है, जो इस ग्रन्थकार की दृष्टि में अनुचित है।

नटाङ्कुशकार चाक्यार के परोक्ष परामृश्य का अभिनय करने की प्रवृत्ति पर आपत्ति उठाते हुए कहते हैं कि जिसे साक्षात् देखना अभीष्ट है, उसी का वेश होना चाहिए, जिसे साक्षात् देखना अभीष्ट नहीं है, उसका वेश नहीं। बिना वेश धारण किए हनुमान् का अभिनय करने वाला चाक्यार राम और सीता को कैसे साक्षात् मंच पर अपने अभिनय द्वारा दिखा सकता है।

चाक्यार का पक्ष यह है कि परामृश्य का भी सुख-दुःख आदि अवस्था का अभिनय होना चाहिए, नहीं तो "मरकतरुचो", "माद्यद्भृङ्गाः", इत्यादि संवाद में राम के वियोग की विकलता का अभिनटन अनुपादेय हो जाएगा। नटाङ्कुशकार इसका दृढता से खण्डन करते हैं। परामृश्य पात्र मंच पर दृश्य नहीं होता। राम परामृश्य पात्र है। तब फिर उनका आंगिक, आहार्य और सात्त्विक अभिनयों से अनुकरण कैसे किया जा सकता है, वह भी अनुकर्ता या नट द्वारा जो प्रत्यक्ष में हनुमान् का अभिनय कर रहा है।

वास्तव में नटाङ्कुशकार कूडियाट्टम् में लोकधर्मी अभिनय पद्धति के समावेश के विरुद्ध हैं, वे भरतमुनि के द्वारा प्रतिपादित शास्त्रीय रंगमंच के विधि-विधान पर दृढ़ता से आग्रह करते हैं।

वे आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त के अनुयायी हैं। रस को वे समस्त प्रयोग का निकष मानते हैं। "अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्" – आनन्दवर्धन की इस सूक्ति के अनुसार रस के क्षतिकारक

सभी प्रयोगों पर उनकी इष्टापत्ति है। वे अभिनवगुप्त की सरणि पर चलते हुए नट के आत्मावष्टम्भ की बात करते हैं। आहार्य का हरण करने वाले नट के अवष्टम्भ से राम आदि के स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है।

चाक्यारों की प्रस्तुति में होने वाले रस-दोषों का सूक्ष्म दृष्टि से निरूपण नटाङ्कुशकार ने किया है।

अभिनय में वे सात्त्विक अभिनय में सर्वविध अभिनय की विश्रान्ति मानते हैं – यह भरतमुनि के प्रतिपादन के सर्वथा अनुरूप है।

नटाङ्कुशकार का कवित्व

प्रथम अंकुश के तृतीय मंगल पद्य में नटाङ्कुशकार ने रमणीय रूपक द्वारा नाट्यविद्या को सरस्वती के मुखचन्द्र से झरती मुस्कानरूपिणी ज्योत्स्ना बताया है, तथा सहृदयों को इस ज्योत्स्ना का पान करने वाला चकोर कहा है। इस रूपक द्वारा ग्रन्थकार ने अपनी कवित्वशक्ति तथा सौन्दर्यबोध का परिचय दिया है। उनके गद्य में भी उनका कवि अपनी भावप्रवणता के साथ व्यक्त हुआ है।

भाषा

नटाङ्कुशकार का संस्कृत भाषा पर आसाधारण अधिकार है, उनका पाण्डित्य उनकी भाषा में प्रौढोक्तियों के साथ प्रकट हुआ है। अनेक आभाणक (कहावते/मुहावरे), प्रोक्तियाँ या प्रौढोक्तियाँ उनकी लेखनी से सहज रूप में आते हैं। चाक्यारों पर व्यंग्य प्रहार करने में उन्होंने भाषा का अचूक अस्त्र की तरह उपयोग किया है। कुछ उदाहरण देखें –

मन्ये स उपदेशभस्त्रिकामुखात् न निर्याति।

मुझे तो लगता है वह आपकी उपदेशरूपी भस्त्रिका (धौंकनी) के मुख से निकल ही नहीं रहा है।

प्रयोगप्रस्तावे कथानुषङ्गवैमुख्येनैव वितायमानम् इदं व्यायामवैयात्यं न युक्तम्।

यहाँ नाट्य प्रयोग के प्रस्ताव में कथा को जारी रखने से मुँह मोड़कर आपका यह व्यायामवैयात्य (सर्कस की तरह उछलकूद) का वितान उचित नहीं है।

आहार्यस्य च आङ्गिकादेश्च संबन्धिभेदपरिग्रहोऽयम् औचित्यस्य गलार्धचन्द्रः।

हनुमान् का अपने वानर के वेश के आहार्य और आंगिक अभिनय से भिन्न आहार्य और आंगिक वाले पात्र (राम) का अभिनय करने लग जाना औचित्य को गरदनिया देकर बाहर निकाल देना हुआ।

किंच इदं राजनयप्रपञ्चनं वत्सराजोद्देशेन वा महासेनोद्देशेन वा राजसामान्योद्देशेन वा। आद्यपक्षे तस्य गजस्नानप्रायता।

गजस्नानप्रायता (किए-कराए का मटियामेट होना) इस आभाणक का यहाँ बड़ा समीचीन प्रयोग नटाङ्कुशकार ने किया है।

इसी प्रकार

इत्थमङ्गान्यभूतस्य वस्तुनोऽतिप्रपञ्चनम्।
प्रकृतार्थलतामूले कुठारपतनं स्फुटम्॥९५॥

यहाँ अंगविस्तृति रस-दोष के लिए प्रकृतार्थलतामूल में कुठारापात का काव्यात्मक दृष्टान्त अलंकार सौन्दर्य के साथ ग्रन्थकार की भाषा और अभिव्यक्ति की सम्पन्नता का परिचायक है।

नटाङ्कुशकार चाक्यारों की प्रस्तुति में बिना प्रसंग के नृत्य जोड़ने को व्यर्थता बताने के लिए कहीं अजागलस्तन (बकरी के गले में लटकने वाला स्तन की आकृति जैसा अंग) का मुहावरा प्रयुक्त करते हैं, तो कहीं –

हारयति वक्षसोरिव, नान्योन्यं युज्यते घटना।

"सम्प्रति हि" इस पाठ का और उसके पश्चात् की जाने वाली नृत्यक्रिया का हार और संन्यासी के वक्षःस्थल के समान एक-दूसरे से संयोग बैठता नहीं है – यह कल्पना करते हैं।

नटों द्वारा प्रवेश्य पात्र का प्रवेश कहीं दिखाना और कहीं न दिखाना – इस पर कड़ी टिप्पणी करते हुए नटाङ्कुशकार कहते हैं – "इदं तु अर्द्धजरतीयं मा भूत् (यह अर्द्धजरतीय (आधा स्वीकार और आधा अस्वीकार) तो कम-से-कम न हो।)"

कहीं-कहीं नटाङ्कुशकार के व्यङ्ग्य प्रहार अत्यन्त चुटीले हो गए हैं। उदाहरणार्थ हनुमान् का अभिनय करने वाले नट द्वारा सीता का अभिनय करने लग जाने पर उनकी छींटाकशी है –

कपिरूपमुपादाय लाङ्गूलादिविशेषितम्।
सीता भूत्वा विलासादिनटनं साधु साध्विदम्॥७६॥

"देवानां प्रियः" यह मुहावरा वे नटों के लिए खिल्ली उड़ाते हुए सटीक रूप में प्रयोग करते हैं। मूर्खता पर उपहास वे रुच-रुचकर करते हैं। ऐसे में उनकी भाषा बड़ी मारक हो जाती है। जैसे –

तस्मात् स्वैरमात्ममौखर्याविष्करणकौतुकोद्रेकमात्रपर्यवसायी एष देशभाषापरिग्रह इति स्थितम्।

इसलिए कुल मिलाकर यह सिद्ध हुआ कि यह देशभाषा का स्वीकार तो खुल्लमखुल्ला अपनी मूर्खता को सामने लाने के कौतुक मात्र में पर्यवसित होने वाला है।

सूक्तियाँ

नटाङ्कुशकार ने अनेक सुन्दर सूक्तियों का भी निवेश इस ग्रन्थ में किया है, जो रोचक और संग्राह्य हैं। यथा –

सत्येव रज्जुसम्बन्धे तन्वन्नब्धौ विगाहनम्।
जलाहरणमादत्ते घटो नासति जातुचित्॥१७॥

जब घड़े में रस्सी बँधी हो, तभी पानी में डालकर उससे पानी खींचकर निकाला जा सकता है। यदि रस्सी नहीं बँधी हो तो वह पानी में तैरता रह जाता है।

आदत्ते तुरगं शीघ्रगमनैषी न दण्डिकाम्

जो शीघ्र जाना चाहता है वह अश्व को स्वीकार करता है, पालकी को नहीं।

क्षीरं दधिदशाप्राप्तं न पुनः क्षीरतां व्रजेत्॥७९॥

आश्चर्यचूड़ामणि नाटक

नटाङ्कुशकार ने अपने पूरे प्रबन्ध में चाक्यारों द्वारा किए जाने वाले *आश्चर्यचूड़ामणि* नाटक के प्रयोग की कड़ी समीक्षा की है। *नटाङ्कुश* ग्रन्थ को समझने के लिए *आश्चर्यचूड़ामणि* का परिचय होना आवश्यक है। नटाङ्कुशकार इस नाटक के प्रणेता शक्तिभद्र के प्रति बड़ा आदर-भाव प्रकट करते हैं। वे इस नाटक को सज्जनों का चूड़ामणि कहते हैं (पद्य १४)।

आश्चर्यचूड़ामणि नाटक के प्रणेता शक्तिभद्र का जन्म केरल के कुन्नत्थबर जिले में चेन्नीरक्करस्वरूपम् नामक ब्राह्मणकुल में हुआ।[३] ये केरल के ही एक अन्य नाटककार कुलशेखर (९०० ई॰ लगभग) से पूर्ववर्ती हैं। शक्तिभद्र का समय आठवीं शताब्दी के आसपास माना जा सकता है। अनुश्रुतियों के अनुसार शक्तिभद्र आद्य शंकराचार्य के समकालीन थे। एक बार जब आचार्य शंकर अपनी दिग्विजय यात्रा के क्रम में चेंगनूर में पहुँचे तो उनके समक्ष उनका अभिमत जानने के लिए शक्तिभद्र ने अपना सम्पूर्ण *आश्चर्यचूड़ामणि* नाटक पढ़कर सुनाया। आचार्य शंकर का उस दिन मौन व्रत था, इसलिए पूरा नाटक सुनने के पश्चात् वे कुछ नहीं बोले। शक्तिभद्र को लगा कि आचार्य को उनकी रचना अच्छी नहीं लगी, और उन्होंने खिन्न होकर अपने नाटक की पोथी जला दी। आचार्य शंकर वापसी की यात्रा में फिर चेंगनूर आए और उन्होंने शक्तिभद्र से उनकी रचना में संसार की कुशलवार्ता बताने वाले एक पद्य के विषय में प्रश्न किया। तब शक्तिभद्र को नाटक की पोथी नष्ट करने की अपनी त्वरितता पर पश्चात्ताप हुआ। आचार्य शंकर को जब विदित हुआ कि शक्तिभद्र ने नाटक जला दिया है, तो उन्होंने अपनी असाधारण स्मरण शक्ति से सारा नाटक वैसा का वैसा ही बोल-बोलकर फिर से लिखवा दिया।[४] इस अनुश्रुति से शक्तिभद्र की लोकप्रियता प्रमाणित होती है।

शक्तिभद्र ने *आश्चर्यचूड़ामणि* के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रबन्धों की भी रचना की थी, जिनमें से *उन्मादवासवदत्तम्* नामक नाटक का उल्लेख इनके द्वारा स्वयं *आश्चर्यचूड़ामणि* की प्रस्तावना में सूत्रधार के मुख से कराया गया है। परन्तु शक्तिभद्र का अन्य कोई ग्रन्थ सम्प्रति उपलब्ध नहीं है।

प्रयोग की दृष्टि से *आश्चर्यचूड़ामणि* केरल के चाक्यारों के बीच भास के नाटकों की भाँति लोकप्रिय रहा है, और यह केरल के कूडियाट्टम् रंगमंच पर प्रायः खेला जाता रहा है। प्रयोग की दृष्टि से यह नाटक इतना लोकप्रिय हुआ कि उत्तर भारत में भी इसके अभिनय होते रहे।

आश्चर्यचूड़ामणि नाटक रामकथा पर आधारित है। इसके अलग-अलग अंकों के अलग-अलग नाम अभिनेताओं के बीच प्रसिद्ध हैं। पहले अंक का नाम पर्णशालांक है। इसका आरम्भ पञ्चवटी में शूर्पणखा के साथ राम और लक्ष्मण के संवाद, विवाद और द्वन्द्व के दृश्यों से होता है। प्रस्तावना के बाद गोदावरी के तट पर कुटी बनाते हुए लक्ष्मण प्रवेश करते हैं। राम और लक्ष्मण दोनों शूर्पणखा के साथ परिहास करते हैं, यह दृश्य बहुत नाटकीय तथा रोचक है। दूसरे अंक का नाम शूर्पणखांक है। शूर्पणखा प्रसंग इस अंक में विस्तारित कर दिया गया है। तीसरे अंक का नाम मायासीतांक है। इसमें जनस्थान के ऋषि राम द्वारा खर–दूषण आदि के संहार से अभय प्राप्त कर सन्तुष्ट होकर उनके लिए उपहार में एक चूड़ामणि,

---

[३] Mahakavi Uloor, *Kerala Sahitya Caritram*, vol. I, p. 131.

[४] Ibid., p. 127.

अंगुलीयक तथा दिव्य कवच भेजते हैं। दोनों की विशेषता यह है कि जब तक इन्हें कोई पहने रहेगा, राक्षसों की माया उसे धोखा नहीं दे सकेगी, वह छद्मवेशधारी राक्षस को स्पर्श करते ही उसके वास्तविक रूप में देख सकेगा। नाटक का *आश्चर्यचूड़ामणि* नामकरण का निमित्त ऋषियों का यह उपहार ही है। राम अँगूठी स्वयं धारण कर लेते हैं तथा चूड़ामणि को सीता के जूड़े में बाँध देते हैं। लक्ष्मण कवच धारण करते हैं। दूसरी ओर रावण राम से प्रतिशोध लेने के लिए मारीच को अपने साथ लेता है। मारीच स्वर्णमृग के रूप में प्रवेश करता है। राम और सीता दोनों उसके अद्भुत सौन्दर्य पर विस्मय विमुग्ध हैं, जबकि लक्ष्मण उन्हें सावधान करते हैं कि यह राक्षसों की माया हो सकती है। राम के स्वर में मारीच की पुकार को सुनकर सीता लक्ष्मण को आग्रहपूर्वक राम के पास भेज देती हैं, तब रावण राम का ही वेश धारण करके आता है, और उसका सारथि लक्ष्मण का वेश धर लेता है। रामवेशधारी रावण सीता से कहता है कि उन्हें तुरन्त अयोध्या चलना होगा क्योंकि भरत संकट में है। सीता धोखे में आकर रथ पर बैठ जाती है। लक्ष्मण वेशधारी सारथि बताता है कि रथ भी जनस्थान के ऋषियों ने उपहार में दिया है। जब वास्तविक राम कुटी की ओर लौट रहे हैं, तो मरणासन्न मारीच राम का रूप धरकर लक्ष्मण को धोखा दे देता है।

रावण सीता का हरण करके चल देता है, इधर शूर्पणखा सीता का वेश धरकर राम और लक्ष्मण को भुलावा देने पहुँच जाती है। राम अँगूठी के प्रभाव से उसे पहचान जाते हैं, और रावण के लिए उसके द्वारा चेतावनी से भरा सन्देश भेजते हैं।

मारीच स्वर्णमृग बनकर नहीं, मायाराम बनकर आता है। वास्तविक सीता मायाराम (रावण) के साथ आकाश-मार्ग से जा रही है, और धरती पर चलते वास्तविक राम को देखकर उन्हें घेरकर अनेक राक्षस घूम रहे हैं।

लक्ष्मण यह समझकर कि बड़े भाई राम को राक्षस ने मार दिया है, आत्महत्या करने को तैयार हो जाते हैं। वे मायाराम बने मारीच को लगा बाण निकाल रहे होते हैं, उसी समय उन्हें खोजते हुए राम वहाँ आ जाते हैं। ये वास्तविक राम हैं, परन्तु लक्ष्मण उन्हें राक्षस समझकर क्रुद्ध होकर मारने को तैयार हो जाते हैं। राम लक्ष्मण को सच्चाई बताते हैं और मारीच को छूकर अँगूठी के प्रभाव से उसका वास्तविक रूप दिखाते हैं। राम द्वारा मायानिवारक अँगूठी से मारीच की माया टूट जाती है।

मारीच लक्ष्मण के चरण-प्रहार से मर जाता है, और उसे मरा हुआ देखकर मायासीता बनी शूर्पणखा रोने लगती है। राम उसके आँसू पोंछने के लिए उसका स्पर्श करते हैं, तो स्पर्श करते ही अँगूठी के प्रभाव से वह अपने वास्तविक रूप में आ जाती है।

जटायुवधांक नामक चौथे अंक में रावण सीता को रथ पर बैठाकर ले जा रहा है। जैसे ही वह लोलुपतावश सीता को छूने लगता है, चूड़ामणि के प्रभाव से सीता उसे उसके वास्तविक रूप में देख लेती है। तब सीता की पुकार पर जटायु आता है और रावण को चुनौती देता है।

अशोकवनिकांक नामक पाँचवे अंक में लंका का दृश्य प्रस्तुत होता है। मन्दोदरी अपनी चेटी को दुःस्वप्न का वृत्तान्त बताती है, फिर अशोक वाटिका में सीता के प्रति प्रणयनिवेदन करते रावण को वह छिपकर देखती है। सीता द्वारा तिरस्कृत रावण क्रोध में भरकर सीता का वध करने के लिए तलवार खींच लेता है, मन्दोदरी लताकुञ्ज से निकलकर उसे रोकती है। छठा अंक अंगुलीयकांक के नाम से प्रसिद्ध है,

इसमें हनुमान् सीता को खोजते हुए प्रवेश करते हैं। सीतान्वेषण में असफल होकर वे आत्मघात करने जा ही रहे थे, तभी उन्हें अशोक वाटिका से सीता का करुण-क्रन्दन सुनाई पड़ता है। अन्तिम सातवें अंक में विद्याधर तथा विद्याधरी के संवाद द्वारा रावण-वध की सूचना दी जाती है। राम, लक्ष्मण, विभीषण आदि प्रवेश करते हैं। अन्त में सीता की अग्नि-परीक्षा और राम का अयोध्या लौटने के प्रसंग के साथ नाटक समाप्त होता है।

आश्चर्यचूड़ामणि आश्चर्यजनक प्रसंगों की चूड़ामणि ही है। भास के नाटकों के बाद यह नाटक केरल के रंगमंच पर सर्वाधिक लोकप्रिय रहा है। कूडियाट्टम् के चाक्यारों द्वारा भास के *रामायण-कथा* पर आधारित दो नाटकों *प्रतिमा* और *अभिषेक* के साथ इस नाटक को मिलाकर तीनों नाटकों की एक शृंखला में अभिनय किया जाता रहा है, जो पूरे एक वर्ष में समाप्त होता है। कुप्पुस्वामी शास्त्री ने इस नाटक को भवभूति के *उत्तररामचरित* के बाद संस्कृत का रामकथा पर आधारित सर्वश्रेष्ठ नाटक माना है[५]। मोरिस विण्टरनित्स ने तो इसे नाट्यकला की दृष्टि से *उत्तररामचरित* से भी अधिक प्रशस्य मान लिया है[६]।

आश्चर्यचूड़ामणि में अद्भुत रस का आद्यन्त निर्वाह किया गया है और इसके लिए नाटककार ने अनेक विस्मयजनक वृत्तान्तों तथा निराली कल्पनाओं का जाल बिछाया है। चूड़ामणि और अँगूठी का जादुई चमत्कार, रावण व शूर्णणखा का रूप बदलकर राम, लक्ष्मण और सीता को धोखा देना आदि ऐसी ही कल्पनाएँ हैं। एक ही अंक के बीच तीन-तीन राम, दो-दो लक्ष्मण और दो-दो सीताएँ मंच पर आमने-सामने आ जाते हैं।

कूडियाट्टम् के रंगमंच पर आश्चर्यचूड़ामणि

आश्चर्यचूड़ामणि नाटक के हनुमत्–सीता संवाद के प्रकरण का अभिनय कूडियाट्टम् के चाक्यार विलक्षण पद्धति से करते हैं, जिसे कूटिचोल्लुक कहा जाता है। इसमें हनुमान् का अभिनय करने वाला चाक्यार आहार्य धारण किए रहता है, परन्तु सीता का पात्र मंच पर नहीं रहता, उसके स्थान पर कुतप में बैठी गायिका उसके संवाद बोल देती है और सूत्रधार हनुमान् तथा सीता के संवादों का अनुवाद करता चलता है।

---

[५] S. Kuppuswami Sastri (ed.), 1926, *Āścaryacūḍāmaṇi,* Madras, p. 12, quoted by K. Kunjunni Raja, 1980, *Contribution of Kerala to Sanskrit Literature,* p. 211.

[६] M. Winternitz, "Śaktibhadra's Place in the History of Sanskrit Literature", *Kuppuswami Sastri Commemoration Volume,* p. 5. Quoted by K. Kunjunni Raja, 1980, "*Contribution of Kerala to Sanskrit Literature*", p. 211.

॥ श्रीः ॥

॥ हरिः श्री गणपतये नमः । स्वस्ति ॥

ग्रन्थारम्भः

(ग्रन्थारम्भ)

महिमा स जयेत्येको यत्प्रभावस्य गायिका ।
सततागमकेदारा तारस्वरवती त्रयी[१] ॥ १॥

निरन्तर आगमरूपी केदार से युक्त तीनों वेद उच्च स्वर में जिसके प्रभाव का गायन निरन्तर करते रहते हैं, उन महिमामय परमेश्वर की जय हो ॥ १॥

टिप्पणी – त्रयी से आशय तीन वैदिक संहिताओं *ऋग्वेद*, *यजुर्वेद* और *सामवेद* से हो सकता है। ग्रन्थकार अद्वैतवादी है, त्रयी भी एक अद्वैत परमतत्त्व का गान करती है – यह उनका अभिप्राय है। स्वर से अभिप्राय संगीतशास्त्र में प्रतिपादित सात स्वरों से है, तथा तार इन स्वरों के तीन सप्तकों में से सबसे उत्कट स्वर वाला अन्तिम सप्तक है। प्रथम मंगल पद्य से ही ग्रन्थकार का वेद, वेदान्त तथा संगीतशास्त्र में अभिनिवेश स्पष्ट सूचित होता है।

दम्पतीप्रक्रियां काञ्चिज्जगत्त्रयविभाविनीम्[२] ।
लास्यताण्डवसम्भेदप्रयोगाश्चर्यभूमिकाम् ॥ २॥

शिव और पार्वती द्वारा लास्य और ताण्डव इन दोनों नृत्य प्रकारों में आश्चर्यजनक भूमिका के साथ किए गए प्रदर्शन द्वारा तीनों लोकों को विभावित करने वाली, मोहित करने वाली प्रस्तुति को हम नमन करते हैं ॥ २॥

भारतीचारुवक्त्रेन्दुलीलार्द्रस्मितचन्द्रिका ।
सूते सुधीचकोराणां नाट्यविद्या भृशं मुदम् ॥ ३॥

नाट्य की विद्या, सरस्वती के सुन्दर मुखचन्द्र से झरती हुई मुस्कान की चन्द्रिका है जो सहृदयरूपी चकोरों को आनन्द प्रदान करती रहती है ॥ ३ ॥

टिप्पणी – ग्रन्थकार ने नाट्यविद्या को सरस्वती के सुन्दर मुखचन्द्र से झरती हुई मुस्कानरूपी चन्द्रिका तथा सहृदयों को इस चन्द्र का पान करने वाला चकोर बताया है। उपमेय पर उपमान का आरोप होने से यहाँ रूपक अलंकार हो जाता है, तथा उपमेय के अंगों पर उपमान के अंग का भी आरोप किया गया है, इसलिए साङ्ग रूपक है। अलंकार के सुन्दर कल्पनापूर्ण विन्यास द्वारा ग्रन्थकार की कवि-प्रतिभा भी विदित होती है।

यस्य विज्ञानपानेन देवेन्द्रो रमते दिवि ।
तस्मै नमो मुनीन्द्राय भरताय ससूनवे ॥ ४॥

---

[१] क्रिया – R

[२] विमोहिनीम् – P, विभाविनीम् – R

पुत्रों सहित मुनीन्द्र भरत को नमन है जिनकी कला के रसास्वादन से देवराज इन्द्र भी स्वर्ग में रमे रहते हैं ॥४॥

अहो दुर्ज्ञानमप्यन्यैः प्रयोगेन महानटाः।
आदाय दर्शयन्त्येवं वस्तुनेत्राश्रयं रसम्॥५॥

वस्तु और नेता (पात्र) पर आधारित, अन्य लोगों द्वारा कठिनाई से जाने गए रस को महान् नट अपने प्रयोग से दिखा देते हैं॥५॥

टिप्पणी – यहाँ मंगलस्वरूप नटों की भी प्रशस्ति ग्रन्थकार ने की है। वस्तु (कथा), नेता (पात्र) तथा रस – ये नाट्य के तीन मूलभूत तत्त्व हैं। इनमें भी रस सर्वप्रमुख तथा परिणति में प्राप्य तत्त्व है। नट कथा का अभिनय करते हुए मंच पर पात्रों को प्रकट कर देता है, जिससे प्रेक्षक को रसानुभूति होती है। ग्रन्थकार ने यहाँ नाट्य की समग्र प्रक्रिया का संकेत करके ग्रन्थ की विषय-वस्तु का भी उत्थापन कर दिया है।

तत्रामीभिस्तु शैलूषैर्नाट्यं यत् प्रवितन्यते।
लोकोत्तरत्वान्नूनं तदवगन्तुं न गच्छति॥६॥

किन्तु आजकल के शैलूषों (नटों) द्वारा जो नाट्य किया जाता है वह तो ऐसा अलौकिक है कि उसे कोई समझ ही नहीं पाता॥६॥

टिप्पणी – शैलूष शब्द के प्रयोग द्वारा ग्रन्थकार विकृत नाट्यप्रयोग करने वाले नटों के प्रति निन्दा-भाव प्रकट करता है। "शैलूषाः जायाजीवाः कुशीलवाः" – *अमरकोश* में नट के ये पर्याय परिगणित हैं। शैलूष शब्द धिक्कार के अर्थ में प्रयुक्त होता है। ग्रन्थकार ने कूडियाट्टम् का प्रयोग करने वाले चाक्यारों को धिक्कार के अर्थ में ही शैलूष कहा है। *वाल्मीकि रामायण* में सीता राम को ताना मारते हुए कहती है – "शैलूष इव मां राम परेभ्यो दातुमिच्छसि (हे राम आप एक शैलूष की तरह मुझे परपुरुष को देना चाहते हैं!)"। प्रास्ताविक श्लोकों में पाँचवें पद्य में नटाङ्कुशकार ने प्रशंसा के अर्थ में नट शब्द का प्रयोग किया है, जबकि यहाँ नटवाचक शैलूष शब्द का प्रयोग है। आगे चलकर निन्दा करते हुए ही इस ग्रन्थकार ने शैलूष शब्द का प्रयोग किया है।

गर्वयन्ते च तेनामी वयमेवात्र पण्डिताः।
नास्मत्प्रयोगं जानन्ति मुग्धा एते जना इति॥७॥

इस कारण ये नट गर्व करते रहते हैं कि नाट्य के प्रयोग में हम ही पण्डित हैं, और ये भोले-भाले लोग हमारे प्रयोग को नहीं जानते॥७॥

तद्युक्तं यत एतेषां गृहगानतया स्थिते।
अङ्गुलीयाङ्क एवादौ संशयाः सन्ति मादृशाम्॥८॥

इसीलिए इनके द्वारा अपने (ही) घरों में गाए जाने वाले अंगुलीयक अंक को लेकर मेरे जैसे लोगों को सन्देह हो, यह उचित ही है॥८॥

टिप्पणी – अंगुलीयक अंक महाकवि शक्तिभद्र के *आश्चर्यचूडामणि* नाटक के षष्ठांक का नाम है,

इसमें हनुमान् सीता के अन्वेषण के लिए लंका में प्रवेश करते हैं। *आश्चर्यचूडामणि* के परिचय के लिए भूमिका द्रष्टव्य है।

"एतेषां गृहगानतया स्थिते अङ्गुलीयाङ्के (इनके द्वारा अपने (ही) घरों में गाए जाने वाले अंगुलीयक अंक में)" इन शब्दों में भी उपहास है, अर्थात् कूडियाट्टम् के नट अपने घरों में जैसा समझते हैं, वैसा इस अंक को गाते रहते हैं, उनकी समझ विज्ञजनों से समर्थित नहीं है।

प्रथमः अङ्कुशः (प्रथम अंकुश)

क्रियानृत्यखण्डनम्
(क्रियानृत्य के समावेश का खण्डन)

क्रियासमावेशविषये चत्वारः पूर्वपक्षाः

तथा हि – का तावदियं क्रिया, किं कथाशारीरैकदेशः, उत देवताप्रीतिसाधनम् आहोस्विद् अनुकार्यस्वभावचेष्टा, अथवा कथाभिनयाङ्गं किञ्चित् नृत्यम् इति किमपि न निर्धार्यते। प्रकारान्तरं तु न संभवति।

नुन मा भूदसम्भाव्यम्[१], एष्वेव पक्षेषु केनचित् भूयताम्। अस्तु कस्तर्हि पक्षो भवतु, न तावदाद्यः, कथानुपलम्भात्॥

क्रियां कथा स्पृशत्येनां न सामाजिकसाक्षिणी।
पराजयनिमित्ताभिनिर्धूतमिव वादिनम्॥९॥

(उपोद्घात पद्यों में षष्ठ पद्य में कहा है कि शैलूष या कूडियाट्टम् करने वाले चाक्यार मनमाने ढंग से इस तरह से प्रस्तुति करते हैं कि वह समझ में नहीं आती। उसका प्रथम निदर्शन प्रस्तुत करते हुए ग्रन्थकार कहता है कि चाक्यार क्रिया के नाम से बीच-बीच में नृत्य जोड़ देते हैं, जो अनावश्यक होता है।)

प्रश्न यह उठता है कि क्रिया क्या है? क्या यह कथा शरीर का एक भाग है या देवता की प्रीति का साधन है? यह अनुकार्य (मूलपात्र) की स्वाभाविक चेष्टा है अथवा कथा के अभिनय का अंग है? कुल मिलाकर इनमें से यह क्या है, यह निर्धारित नहीं हो पाता। और यह भी सम्भव नहीं है कि इसके अतिरिक्त यह और कुछ हो। अतएव यह कहा जा सकता है कि यह इनके अतिरिक्त यदि कुछ नहीं है तो इन्हीं में कोई एक होना चाहिए। उपर्युक्त चार पक्षों में से कौन सा पक्ष होना चाहिए? पहला तो नहीं हो सकता क्योंकि इस क्रियानृत्य में कोई कथा उपलब्ध नहीं होती।

सामाजिकों द्वारा देखी जाने वाली कथा को यह क्रिया छूती भी नहीं है। जिस प्रकार पराजित हुए वादी को शब्द नहीं छू पाते॥९॥

१. क्रिया अभिनय एवेति पक्षस्य खण्डनम्
(क्रिया अभिनय है – इस पक्ष का खण्डन)

यदिह केचिद् अन्तरा क्रिया अभिनय इति कथानटनमुपलब्धं मन्यन्ते, तन्न क्रियाशेषतया स्थितम्, अनेन विनापि अस्याःपरिपूर्णताभ्युपगमात्॥

कुछ लोगों का यह कहना है कि क्रिया यहाँ कथा के बीच किया जाने वाला अभिनय है। तो यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि उसके बिना भी कथा का अभिनय पूर्ण हो सकता है।

---

[१] भूद् अम्भाव्यम् – P

टिप्पणी – यहाँ पूर्वपक्षी (चाक्यार) के इस मत का खण्डन किया गया है कि क्रिया नाट्याभिनय या नाट्यप्रस्तुति का ही एक अंग है।

२. क्रिया देवताप्रीत्यर्थमिति द्वितीयपक्षस्य खण्डनम्
(क्रियानृत्य देवताप्रीत्यर्थ है – इस द्वितीय पक्ष का खण्डन)

द्वितीयपक्षे किं क्रिया एव इति, सकलमपि तन्नाट्यं देवताप्रीतिकरं स्यात्। यदुक्तम् –

"देवानामिदमामनन्ति मुनयः कान्तं क्रतुं चाक्षुषं
रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा।
त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्।"[२]

इति विशिष्य असौ एवमिति चेत्, असौ एवालं देवताप्रीणनाय, किं कथानटनैः।

साधनात् साधनतरं साध्यार्थी नूनमिच्छति।
आदत्ते तुरगं शीघ्रगमनैषी न दण्डिकाम्॥१०॥

यदि द्वितीय पक्ष को मानते हैं तो यह प्रश्न आता है कि क्या क्रिया से ही देवता प्रसन्न होते हैं? असल में सम्पूर्ण नाट्य से ही देवता की प्रीति प्राप्त होती है। जैसा कि कहा है –

> नाट्य को मुनियों ने देवताओं के लिए किया जाने वाला सुन्दर चाक्षुष यज्ञ कहा है। शंकर ने पार्वती के साथ संयोग के समय इसी को अपनी देह में दो रूपों में विभाजित करके धारण किया है। वास्तव में नाट्य भिन्न रुचियों वाले लोगों के लिए मनोरंजन का एकमात्र उपाय है।

इस प्रकार सम्पूर्ण नाट्य विशेष रूप से ऐसा होता है जो अपने आप में देवताओं के लिए प्रशंसा के लिए पर्याप्त है। अतएव कथा के बीच में नृत्य करना अनावश्यक है।

जिस साधन से साध्य प्राप्त किया जा सके उसी को साध्यार्थी चाहता है। जो शीघ्र जाना जाता है वह अश्व को स्वीकार करता है, पालकी को नहीं॥१०॥

> *टिप्पणी* – "देवानामिदमामनन्ति मुनयः …" इत्यादि श्लोक कालिदास के *मालविकाग्निमित्र* में नाट्य की प्रशंसा में नाट्याचार्य गणदास का कथन है। ग्रन्थकार ने अपने पक्ष के समर्थन में इसे उद्धृत किया है, तदनुसार नाट्य को नाटककार ने जिस रूप में रचा है, उसी रूप में समग्र प्रयोग करने पर देवता प्रसन्न होते हैं, अपने मन से उसमें क्रिया (नृत्य या नृत्य) जोड़ दें, तो यह देवताप्रीत्यर्थ नहीं हो सकता।

कथानटनमपि कर्तव्यमिति चेत्, उभयविधानेच्छायां किम् एकैकस्य एकमुपकारकम् उत उभयमपि समसाध्यम्। उभयसाध्यतापक्षे पौर्वापर्यनियमः अस्ति वा न वा।

यदि यह कहा जाए कि कथा का नाट्य किया जाना और अभिनय दोनों साथ-साथ किए जाने चाहिए,

---

[२] *मालविकाग्निमित्र* १.४।

तो प्रश्न यह उठता है कि नाट्य और क्रिया, ये दोनों एक-दूसरे के उपकारक हैं। ये दोनों एक साथ साध्य होते हैं। यदि यह कहा जाए कि दोनों साथ-साथ हैं तो इसमें प्रश्न यह आता है कि पहले कौन रहेगा और बाद में कौन।

३. देवताप्रीत्यर्थं क्रियेति पक्षस्य खण्डनम्
(क्रिया देवता को प्रसन्न करने के लिए है – इस पक्ष का खण्डन)

नास्ति पूर्वं कथा पश्चात् क्रिया इति। तत्रापि "स्नात्वा भुङ्क्ते" इतिवत् न पूर्वव्यपवर्गे परविधानम्, कथमारभ्य तदपरिसमापने क्रियापरिग्रहात्। न चेह अतर्कितोपनतावश्यकानुष्ठेयान्तरवशात् अन्तरा पूर्वपरित्यागः तदनवसायात्, प्रतिनाट्यम् एवंदर्शनाच्च। प्रकृतापरिसमाप्तौ निर्द्धारितपूर्वेतरकरणं प्रकृतनिर्वाहाङ्गतया साम्प्रतम्। अपरथा अत्रैव भ्रान्तनटनप्रसङ्गात् केनैव अनुपकारकम् अन्तरे गृह्येत। तर्हि भवतु अनयोरपि उपकार्योपकारकभाव इति चेत्, किमुपकार्यं, किं वोपकारकमिति विमर्शे नाट्यस्य अवस्थानुकृतिरूपस्य इह कर्तव्यताश्रयणात् प्राधान्यम् अभ्युपगन्तव्यम्। तदा इदं देवताप्रीणनं तस्य उपकारकमिति स्यात्। तत्रैतत् केन करणेन तदुपकारकं भवतीति चिन्तायां विघ्ननिवारणादिना इति सेत्स्यति। एवं स्थिते पुनरेषा क्रिया नाट्यात् प्राक् प्रयोक्तव्या इत्यापतेत्। चिकीर्षितारम्भे खलु तदन्तरायनिकर्तनधुरन्धरं देवताभिवन्दनं दरीदृश्यते। यथा हनूमतः समुद्रोल्लङ्घनोद्यमे –

"ससूर्याय महेन्द्राय सगणाय स्वयंभुवे।
भूतेभ्यश्चाञ्जलिं कृत्वा गमनायोपचक्रमे" ॥

इत्यादि। यथा वा ग्रन्थादौ –

नमः शाश्वतिकानन्दज्ञानैश्वर्यमायात्मने।

इत्यादि। यथा वा अत्रैव नान्दी। सा खलु देवतैकतानतया प्रत्यूहव्यूहविहतिहेतुः आदौ आदीयते। यथोक्तम् –

"देवतादिनमस्कारमङ्गलारम्भपाठनम्।
नाट्यादौ शस्यते यत्तु सा नान्दी कथिता बुधैः ॥"

इति। तथा च "नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधार" इति नाटकोपक्रमो भवति।

क्रियेयं देवताप्रीतिविधये जायते यदि।
नाट्यात् प्रागेव नान्दीव प्रयोक्तव्या भवेद् ध्रुवम्॥११॥

यह कहना भी उचित नहीं है कि कथा पूर्व में और तत्पश्चात् नृत्य होता है क्योंकि इसमें भी स्नान करके भोजन करता है – इसी उदाहरण के समान स्नान और भोजन दोनों क्रियाओं में पौर्वापर्य जिस प्रकार स्पष्ट है उसी प्रकार पौर्वापर्य स्पष्ट नहीं होता । नट कथा को आरम्भ करके उसे बिना समाप्त किए ही क्रियानृत्य भी करने लगता है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि एक क्रिया के बीच में अप्रत्याशित रूप से अन्य कार्य जिस प्रकार आ जाता है और उस अन्य कार्य को तुरन्त करना होता है, उसी प्रकार अभिनय

के बीच में क्रियानृत्य यहाँ किया जाता है क्योंकि प्रत्येक नाट्य में ये लोग ऐसा ही करते हैं। प्रासंगिक कथा के अभिनय के समाप्त होने पर उससे भिन्न क्रियानृत्य को उसके अंग के रूप में किया जाए तो यह उचित हो सकता है। अन्यथा तो सारा प्रदर्शन भ्रान्तिपूर्ण हो जाता है। जो प्रस्तुति में उपकारक हो, उसे बीच में कैसे लिया जाएगा?

यदि कहा जाए – कि तब फिर इन दोनों का उपकार्योपकारकभाव सम्बन्ध मान लिया जाए, तो प्रश्न उठेगा कि इनमें उपकार्य कौन? नाट्य तो अवस्थाओं की अनुकृति है – यहाँ उसी का प्रयोग हो रहा है, तो उसी की प्रधानता माननी चाहिए। तब यह देवता को प्रसन्न करने का कृत्य इस नाट्य का उपकारक माना जाना चाहिए। तो यह उपकारक कैसे होगा? विघ्ननिवारण द्वारा उपकारक होगा। तब इस स्थिति में फिर यह सारी क्रिया नाट्यप्रयोग के पूर्व प्रयुक्त कर लेनी चाहिए थी – वही बात फिर से आ गई। जो प्रयोग करना है इसके आरम्भ में ही विघ्न दूर करने हेतु देवता-वन्दन का कृत्य किया जाता है। जिस प्रकार हनुमान् के समुद्र लाँघने के उद्यम में कहा गया है – "सूर्य सहित इन्द्र को, गणों के साथ स्वयम्भू को तथा भूतों को अञ्जलि द्वारा नमन कर (हनुमान् ने आकाश मार्ग से) गमन का उपक्रम किया"। इत्यादि। अथवा जिस प्रकार ग्रन्थ के आरम्भ में (नीचे लिखे अनुसार देव-वन्दन किया जाता है) –

> शाश्वतिक आनन्द, ज्ञान और ऐश्वर्य से युक्त स्वरूप वाले ईश्वर को नमन हो।

इत्यादि। अथवा जिस प्रकार इसी प्रयोग में नान्दी (के द्वारा देव-वन्दन किया ही गया है) यह नान्दी देवता के प्रति एकतान या एकाग्र होकर विघ्नसमूह के नाश हेतु के रूप में आरम्भ में ही की जाती है। जैसा कहा गया है –

> देवता आदि को नमस्कार व मांगलिक आरम्भ पाठ नाट्य के आरम्भ में जिसके द्वारा किया जाता है – उसे विद्वानों ने नान्दी कहा है।

इसीलिए प्रत्येक नाटक के आरम्भ में "नान्दी के पश्चात् सूत्रधार प्रवेश करता है" – यह वाक्य आता है। (निष्कर्ष यह है कि) –

यदि देवता की प्रसन्नता के विधान के लिए यह क्रिया सम्पादित की जा रही है, तो इसे नान्दी की तरह नाट्य के प्रयोग के पहले ही करनी चाहिए॥ ११॥

तथा सति तु किमनया, नान्द्या एवालम् इति स्यात्। नान्दी एव क्रिया इति व्यपदिश्यते इति चेत्, काममम्, नाम्नि क्रियमाणे न विवदामहे। सर्वथा इयं क्रिया नाट्याभ्यन्तरे न अवस्थानमर्हति। "ततः प्रविशति हनूमान् अङ्गुलीयकहस्तः"[३] इति प्रावेशिकेन किञ्चित् कथां समारभ्य पुनस्तां विसृज्य मध्ये देवतार्थं क्रिया क्रियते इति कोऽयं नयः॥

किंच, अनेन नृत्यविशेषेण किं नटो देवताः प्रीणयति, उत हनूमान्। न तावन्नटः, तस्य हनूमद्भावेन निगीर्णत्वात्। हनूमान् पुनरिदानीं देवताप्रीणनाय एवं व्याप्रियते इति किमेतत्।

> उल्लङ्घ्य जलधिं लङ्कां प्राप्तोस्मीति विचिन्त्य तु।
> हनूमान् देवताप्रीत्यै प्रक्रान्त इति युज्यते॥ १२॥

---

[३] *आश्चर्यचूडामणि* नाटक के षष्ठ अंक के आरम्भ में हनुमान् के प्रवेश के लिए रंग-संकेत।

ऐसी स्थिति में यह बात उठेगी कि फिर इस क्रिया की आवश्यकता ही क्या, नान्दी से ही इसका प्रयोजन पूरा हो जाता है। यदि कहा जाए कि नान्दी को ही क्रिया कहा जा रहा है, तो कहते रहो, नान्दी का नाम क्रिया रखने में हमारी ओर से कोई विवाद नहीं। परन्तु नाटक के बीच में यह क्रिया किसी भी तरह से सन्निविष्ट नहीं हो सकती। "अंगूठी हाथ में लिए हनुमान् का प्रवेश"[४] इस प्रावेशिक के साथ कुछ कथा का आरम्भ करके फिर उसे वहीं रोककर बीच में देवताओं के लिए क्रिया की गई – इसमें कौन सी नीति है?

और भी – इस विशिष्ट नृत्य से क्या नट देवता को प्रसन्न करता है या हनुमान् देवता को प्रसन्न करते हैं? नट तो करेगा नहीं, वह हनुमान् के भाव में समाहित हो चुका है और हनुमान् इस समय देवता को प्रसन्न करने के लिए नियोजित कर दिए गए – यह क्या बात हुई?

सागर लाँघकर लंका पहुँच रहा हूँ – यह सोचकर (सागर लंघन छोड़कर) हनुमान् देवता को प्रसन्न करने में लग जाए – इसमें क्या युक्ति है? ॥१२॥

एषा दैवात् कृता प्राप्तिरिति तद्वन्दनं यदि।
तथेदं चेति भोः कुत्र क्रियां मुक्त्वा कथोदयः ॥१३॥

४. आश्चर्यचूडामणौ विविधप्रसङ्गेषु नृत्यप्रयोगः स्याद्वा न वा?
(क्या आश्चर्यचूड़ामणि नाटक के विविध प्रसंगों में नृत्य का प्रयोग अपेक्षित है?)

किंच "एषां पल्लवे"[५] को नाम देवताप्रीणनप्रसङ्गः, येन "एषां" इक्युक्त्वा क्रिया आरभ्यते। न खल्विह पात्रान्तरप्रवेशः, न च एकस्यापि अङ्कान्तरप्राप्तिः तत्र तु आश्चर्याद् इति चेत् "मरकतरुचोमाद्यद्भृङ्गाः"[६] इत्यादौ "ततस्तदानीं" इत्युक्ते किमाश्चर्यं जातम्। "अहो राक्षसनगरस्य परा लक्ष्मीः"[७] इत्यत्र किमिति तपस्विनी क्रिया समुपेक्ष्यते। अथ "पम्पापञ्चकं" आचार्यकृतिरिति तदुपक्रमे क्रिया इति चेत् कथं "एषां पल्लवे" तत्रापि तथा इति चेत् अश्रुतपूर्वमिदम्। तथापि किं निमित्तं "दयितमुपनयन्तम्"[८] इत्यादौ क्रिया निराक्रियते। आचार्यस्य प्रतिश्लोकं क्रिया इति खल्विदम् आपतितम्। कर्त्रन्तरकृतिविच्छेदे एवम् इति चेत् कस्माद् "अत्र देवीं शिंशपाश्रितामभिहितवान्" इत्यादौ क्रियाभ्रंशः आचार्यकृतिविच्छिन्नकविकृत्युपादानं हि तत्। महिमशालित्वाद् आचार्यस्य एव कृतौ एवम् इति चेद् अस्माकं प्रबन्धकृदपि महानेव।

---

[४] द्रष्टव्य पाद-टिप्पणी ३।

[५] एषां पल्लवमंशुकानि कुसुमं मुक्ताः फलं विद्रुमं वैडूर्यं दलमङ्कुरो मरकतं हैमं च शाखाशतम्।
एते के जगतीरुहो वनजुषाप्यज्ञातपूर्वा मया प्रायस्सारममी दिवो विटपिनः किं तैर्ममान्यो भरः।। – *आ॰चू॰* ६.४

[६] मरकतरुचोमाद्यद्भृङ्गा महीरुहराजयो निपतितनदीनिर्धौतान्ता नितम्बभुवो गिरेः।
पथिकसुहृदः पम्पावीचीभिदश्च समीरणाः क्षणमपि विभुं नालं हर्तुं हरत्सु गणेषु ते।। – *आ॰चू॰* ६.९

[७] *आश्चर्यचूडामणि* में मैनाकं नागकन्या (६.१) के पश्चात् हनुमान् के स्वगतकथन में एक वाक्य। मूल नाटक में "अहो नु खलु राक्षसनगरस्य परालक्ष्मीः" – यह वाक्य है।

[८] दयितमुपनयन्तं शैवलं चक्रवाकीं मधु मधुकरमभ्योजन्मनामापिबन्तम्।
बिसवलयरसज्ञं राजहंसं च राजा मुहुरभजत तुभ्यं देवि सन्देष्टुकामः।। – *आ॰चू॰* ६.१०

यत्कृतं नाटकं चूडा[९]मणिश्चूडामणिः सताम्।
स कस्यैव न मान्योऽयं शक्तिभद्रो महाकविः ॥ १४॥

यदि देवता की प्रसन्नता के लिए प्राप्त यह क्रिया की गई – यह कहो, तो भाई! फिर क्रिया को छोड़कर फिर से कथा को कब उठाया जा सकेगा ? ॥ १३॥

"एषां पल्लवम्" इस श्लोक में देवता को प्रसन्न करने का क्या प्रसंग है, जो इस श्लोक को कहकर क्रिया का आरम्भ किया जा रहा है? यहाँ अन्य पात्र का तो प्रवेश होता नहीं है, न ही एक पात्र अन्य अंक में प्रवेश करता है। यहाँ "आश्चर्य" के कारण ऐसा कराया गया – यह कहा जाए तो "मरकतरुचो माद्यद्भृङ्गा" इत्यादि श्लोकों में "ततस्तदानीम्" यह कहकर कौन सा आश्चर्य प्रकट किया गया? "अहो राक्षस के नगर (लंका) की यह कैसी परम समृद्धि !" इस कथन में बेचारी क्रिया की उपेक्षा क्यों करते हो? यदि *पम्पापङ्कज* आचार्य की रचना है – इसलिए उसके आरम्भ में क्रिया का अनुष्ठान करना पड़ता है – यह कहो तो, फिर "एषां पल्लवे" इस कथन पर क्रिया किसलिए? वहाँ भी उसी कारण से, जिस कारण से यहाँ (आचार्य की रचना में) – ऐसा कहा जाए तो यह तो ऐसी बात हुई, जो पहले कभी नहीं सुनी। ऐसा ही है तो "दयितमुपनयन्तम्" इस श्लोक के अभिनय में क्रिया क्यों नहीं करते? फिर तो मानना पड़ेगा कि आचार्य के प्रत्येक श्लोक पर क्रिया करनी चाहिए। यदि कहा जाए कि एक कृति के बीच में विच्छेद करके अन्य कवि की रचना लाई जाए, तो उसी पर क्रिया होती है तो फिर "अत्र देवीं शिंशपामाश्रितामभिहितवान्" इस कथन में क्रिया क्यों छोड़ी गई? यहाँ भी तो आचार्य की कृति को छोड़कर कवि की कृति को उठाया गया है। यदि कहा जाए कि आचार्य की महिमा बड़ी है इसलिए उसकी रचना पर ही क्रिया होती है, तो हमारा प्रबन्धकार (मूल नाटककार) भी महान् है।

जिसका *आश्चर्यचूड़ामणि* नाटक सज्जनों की चूड़ामणि है, वह महाकवि शक्तिभद्र किसके लिए मान्य नहीं है? ॥ १४॥

टिप्पणी – ग्रन्थकार नट की ओर से क्रिया या नृत्य का औचित्य सिद्ध करने के लिए इस पूर्वपक्ष की कल्पना करता है कि लंका की समृद्धि देखकर हनुमान् विस्मय या कौतुक से आविष्ट हैं, अतः इस भाव को प्रकट करने के लिए हनुमान् का अभिनय करने वाला नट नृत्य करता है। इस पर आक्षेप करते हुए ग्रन्थकार प्रश्न करता है कि तब फिर "अहो राक्षस के नगर (लंका) की यह कैसी परम समृद्धि!" – हनुमान् के इस संवाद के अभिनय में क्रिया को क्यों छोड़ दिया, जबकि इसमें सीधे-सीधे हनुमान् विस्मय व्यक्त कर रहे हैं?

आचार्यस्यापि आत्मसूक्त्यभिनयोपक्रमे शिथिलसङ्गतिकैतत्क्रियापालनं[१०] नाभिमतं[११] स्यात्। अस्याः समन्वयवैमुख्यम् आसूत्रितं परस्तात् वितनिष्यते।

ननु मङ्गलार्था एव एषा। अत एव आदिमध्यावसानेषु प्रयुज्यते। मैवम्।

---

[९] चूला – P, चूडा – R

[१०] लालनं – P, पालनं – R

[११] न अभिमतं – P

कथारससमास्वादस्रोतसां सभ्यवर्तिनाम्।
मध्ये मध्ये शोषकरी सैषा नूनममङ्गलम्॥१५॥

अत एवोक्तम् "अकाण्डे प्रथनच्छेदौ" इति।

आचार्य को भी यह अभिमत नहीं होगा कि अपने ही श्लोकों पर होने वाले अभिनय के उपक्रम में शिथिल संगति वाली ऐसी क्रिया का समावेश हो। इसमें जो समन्वय का विरोध होता है, उस पर आगे चर्चा करेंगे।

यदि कहा जाए कि यह क्रिया तो मंगल के लिए है इसलिए आरम्भ, मध्य और अन्त में इसका प्रयोग होता रहता है – तो यह भी उचित नहीं है।

कथा-रस के आस्वाद में निमग्न सहृदय जनों के लिए बीच-बीच में रस का शोषण करने वाली यह क्रिया निश्चय ही अमंगल है (मंगल नहीं)। इसीलिए (रस के दोषों में) अकाण्डप्रथन (बिना प्रसंग के विस्तार) तथा अकाण्डच्छेद (बिना प्रसंगनिर्वाह के उसको बीच में तोड़ देना) ये दो दोष कहे गए हैं।

५. क्रिया अनुकार्यस्य स्वभावचेष्टेति तृतीयपक्षस्य खण्डनम्
(क्रिया अनुकार्य की स्वाभाविक चेष्टा है – इस तृतीय पक्ष का खण्डन)

तृतीयपक्षोपि नोपपद्यते। यदि खल्वसौ क्रिया अनुकार्यस्वभावचेष्टा तर्हि कथमेकत्र एव इति नियमः। प्रवेशात् प्रभृति यावन्निष्क्रमणं यद्यत् परिस्पन्दनं सा तस्य स्वभावसिद्धा चेष्टा स्यात्। ततो नेपथ्यवत् सर्वत्र अनुविद्धायां स्वभावचेष्टायां किमिदं विशिष्य क्रिया इति गात्रविशेषसाहसमनुष्ठीयते। अस्त्यत्र विशेषः इति चेत् को नामायम्? मन्ये स उपदेशभस्त्रिकामुखात् न निर्याति।

कथाराहित्यं विशेषः इत्यभिमतं स्यात्। तत्र नाट्यप्रयोगप्रस्तावे कथानुषङ्गवैमुख्येनैव वितायमानम् इदं व्यायामवैयात्यं न युक्तम्।

स्वात्मचेष्टा क्रिया स्याच्चेत् सर्वत्रेयं प्रसज्यते।
व्यापारो वस्तुनटने परचेष्टेति वा भवेत्॥१६॥

तीसरा पक्ष भी (कि क्रियानृत्य मूल पात्र की स्वाभाविक चेष्टा है) संगत नहीं बैठता। यदि यह क्रिया अनुकार्य (नाटक के मूल पात्र) की स्वाभाविक चेष्टा है, तो यह एक स्थल पर रहे (और अन्यत्र नहीं) यह नियम कैसे ? प्रवेश से लगाकर जब तक पात्र का निष्क्रमण नहीं हो जाता तब तक उसका परिस्पन्दन (हरकतें) उसकी स्वभावसिद्ध चेष्टाएं होंगी। तब नेपथ्य के समान सर्वत्र अनुविद्ध (पिरोई हुई) स्वाभाविक चेष्टा में यह विशिष्ट क्रिया कौन सी है जिसके लिए अंगों को हिलाने-डुलाने का यह साहस किया जा रहा है? यदि कहा जाए कि इसमें विशेष बात है, तो बताइए की वह कौन सी विशेष बात है? मुझे तो लगता है वह आपकी उपदेशरूपी भस्त्रिका (धौंकनी) के मुख से निकल ही नहीं रही है।

इसमें आपको अभिमत विशेष बात यही हो सकती है किसी कथा का न होना।

यहाँ नाट्य प्रयोग के प्रस्ताव में कथा को जारी रखने से मुँह मोड़कर आपका यह व्यायामवैयात्य (सर्कस की तरह उछल-कूद) का वितान उचित नहीं है। (सारांश यह है) क्रिया यदि स्वात्मचेष्टा है, तो उसे सर्वत्र अनुस्यूत रहना चाहिए। (अन्यथा) वस्तु के नटन में दूसरे का चेष्टाव्यापार होगा॥१६॥

६. कथाभिनयाङ्गं नृत्यमिति चतुर्थपक्षस्य खण्डनम्
(नृत्य कथा के अभिनय का अंग है – इस चतुर्थ पक्ष का खण्डन)

तुरीयपक्षोपि न हृदयमावर्जयितुं क्षमते। किमिदं क्रियानृत्तं कथाभिनयस्य स्वरूपनिष्पत्तौ उपकारकम्, उत अर्थक्रियाकारितायाम्। आद्येऽपि सहावस्थानेन वा पृथगवस्थानेन वा। न सहावस्थानेन, कथानिष्पत्तिकाले अस्य अविद्यमानत्वात्। विद्यमानं हि चक्रभ्रमणं कलशस्य स्वरूपलाभे सहितं भवति। पृथगवस्थानेन चेत् प्रतिकूलनिवारकमेतदिति[१२] नान्दीत्वं प्रसज्येत। पक्षान्तरमपि न जाघटीति। नाट्यस्य कथानुबन्धसमुज्जृम्भितरसामृतप्रवाहस्य अर्थक्रिया[१३] प्रेक्षकजनमनोरञ्जनम्। न तत्र एषा क्रिया किञ्चिदपि साहायकम् आचरति, पूर्वमेव निवृत्तत्वात्।

सत्येव रज्जुसम्बन्धे तन्वन्नब्धौ विगाहनम्।
जलाहरणमादत्ते घटो नासति जातुचित्॥१७॥

अन्तिम पक्ष भी हृदय को सन्तुष्ट करने में समर्थ नहीं है। क्या यह क्रियानृत्य कथा के अभिनय की स्वरूपनिष्पत्ति में उपकारक है? पहला पक्ष मानें तो प्रश्न आता है कि कथा के अभिनय की स्वरूपनिष्पत्ति में यह क्रियानृत्य साथ रहकर उपकारक है या पृथक् रहकर? साथ रहकर तो उपकारक नहीं हो सकता, क्योंकि कथा जब बनी, उस समय क्रियानृत्य नहीं था। जब चक्र (कुम्हार का चाक) घूम रहा हो तभी वह घड़े के स्वरूपलाभ में हितकारक हो सकता है यदि कहा जाए क्रियानृत्य कथा से पृथक् रहकर उपकारक है क्योंकि वह प्रतिकूल (अमंगल) का निवारक है, तो फिर उसे नान्दी से अभिन्न मानना पड़ेगा। अब दूसरा पक्ष भी संगत नहीं बैठता। क्योंकि नाट्यकथा के सातत्य के साथ रसरूपी अमृत के प्रवाह को पूरा रचता हुआ अपनी अर्थक्रियाकारिता (किसी प्रयोजन के लिए की गई क्रिया का निर्वाह) से प्रेक्षक जनों का मनोरंजन करता है, उसमें यह क्रिया बिल्कुल भी सहायक नहीं होती, क्योंकि वह तो उसके (रसामृत प्रवाह के झरने के) पूर्व ही निवृत्त हो जाती है।

जब घड़े में रस्सी बँधी हो, तभी पानी में डालकर उससे पानी खींचकर निकाला जा सकता है। यदि रस्सी नहीं बँधी हो तो वह पानी में तैरता रह जाता है॥१७॥

७. नृत्यं नाट्याभिनये शोभाजननमिति पूर्वपक्षस्य खण्डनम्
(नृत्य नाट्याभिनय में शोभाजन है – इस पक्ष का खण्डन)

स्यान्मतम्। इयं शोभाकरी, अनया कथानटनम् अतीवालङ्कृतं भवति इति।

नैतत्, भिन्नकालत्वादेव।

---

[१२] प्रतिकूलनिवारकम् एतद् इति – P

[१३] आर्थक्रिया – P

पूर्वमुत्पन्ननष्टेन मुक्ताहारेण सम्प्रति।
कथङ्कारं कुरङ्गाक्ष्याः स्तनग्रीवं विभूष्यते॥१८॥

यह मान लिया कि क्रियानृत्य का कथा से सम्बन्ध नहीं है, पर यह शोभाकरी है, इससे कथा का नटन अत्यन्त अलंकृत हो जाता है, (इसलिए यह आवश्यक है)– यदि ऐसा हो, तो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि क्रियानृत्य और कथा के काल भिन्न-भिन्न हैं। जो पहले उत्पन्न हुआ था, पर अब लुप्त हो चुका, ऐसे मुक्ताहार से भला कैसे मृगनयनी की ग्रीवा और वक्षःस्थल विभूषित हो सकते हैं?॥१८॥

८. नृत्यं नटस्य प्रेक्षकस्य च संस्काराय इति पक्षस्य खण्डनम्
(नृत्य नट तथा प्रेक्षक के संस्कार के लिए है – इस पक्ष का खण्डन)

यथा अर्थोपलब्धौ क्रमश्रुतक्षणिकवर्णसंस्कारः, न तथा पूर्वं दृष्टया क्रियया पुनः कथानुभवे कश्चित् सामाजिकानामुपजायते[१४]। न खल्वियम् एतदेवं प्रदर्श्यते एतदेवं प्रदर्श्यते इति वितनिष्यमाणकथापदार्थाभिनयावबोधयित्री भवति। नटस्यापि अनुष्ठिततया अनया वस्तुप्रयोगे न कश्चित् संस्कारः सम्भवेत् यथाभ्यासेन।

अथादृष्टफलैवैषा मण्डलोल्लेखनादिवत्।
मैवं दृष्टफलैवैषा प्रयोक्तुः स्फुरति श्रमे॥१९॥

जिस तरह भाषा में अर्थ का बोध करते समय क्रम से सुने गए क्षणिक वर्णों का संस्कार उपकारक होता है, उसी तरह पहले देखी गई क्रिया कथा के अनुभव में सामाजिकों का ऐसा कोई उपकार नहीं करती।

यह क्रिया अमुक दृश्य या घटना इस तरह से प्रदर्शित की जा रही है – यह बताते हुए कथा के पदार्थों का अर्थ सहित अभिनय करते हुए बोध कराने वाली नहीं बनती। नट को इसे करके वस्तु और भाव के प्रयोग में कोई संस्कार नहीं प्राप्त होता, जिस तरह अभ्यास से प्राप्त होता है।

यदि कहा जाए कि जिस तरह रंगपीठ पर ब्राह्ममण्डल (देवमण्डल) बनाना अदृष्ट फल वाला होता है, उसी तरह क्रिया भी अदृष्ट फल है, तो यह भी उचित नहीं है, क्योंकि इसे सम्पादित करने में प्रयोक्ता का श्रम स्पष्ट रूप से झलक रहा है, अतः फल भी दृष्ट ही होना चाहिए॥१९॥

इहागामादिप्राप्तं वा दृष्टार्थं वा न यद्भवेत्।
तत् किञ्चिदपि न स्थैर्यम् उपगन्तुं प्रगल्भते॥२०॥

(निष्कर्षतः) जो आगम आदि से प्राप्त (अदृष्टफल) न हो तथा दृष्टफल भी हो वह किसी भी तरह स्थिरता को प्राप्त नहीं हो सकता॥२०॥

९. क्रियायाः देवताप्रीतिविधायित्वे पूर्वपक्षिणः पुनस्तर्कः, तत्खण्डनं च
(क्रिया देवता प्रीतिविधायिनी है – इस सम्बन्ध में पूर्वपक्षी का पुनः तर्क तथा उसका खण्डन)

हन्त! "सकलसुरासुरगणनमितम्" इत्यादि गानश्लोकयोगाद् इयं देवताप्रीतिविधायिनी इति प्रतिभाति। कापयेसंबन्धात् स्वभावचेष्टा इति च। यदि देवताप्रीणनं किं कापेयेन, यदि कापेयं कीदृशं दैवप्रीणनं स्यात्।

[१४] सामाजिकानाम् उपजायते – P

ननु नाट्योपकारकनृत्तानुकार्यस्वभावचेष्टा देवताराधनव्यामिश्रा इयं क्रिया। अत एव क्वचित् तालयाश्रयत्वं क्वचित् निजचेष्टितम् अन्ते साष्टलोकपालस्य परमेश्वरस्य अभिवन्दनम् । सर्वत्र स्वभावरूषित्वाज्जातिम्मुक्त्वा[१५] क्रियाप्रयोग इति।

अहो! बधिरस्य रामायणं वर्णितमस्माभिः[१६]। कथञ्चिदपि क्रियानृत्तं नाट्यस्य नोपकारकमिति निवेदितम्। स्वभावचेष्टा अपि एकत्र एव इति नियमिता प्रत्युक्ता। देवताराधनं च कर्तृविकल्पादिना चपलतामानीतम्[१७]। न चैषां परस्परसंयुक्तावस्थायां कश्चिद्विशेषो भविष्यति। येनोपादेयता[१८] जायेत।

अरे, यह "सकलसुरासुरगणनमितम्" इत्यादि श्लोक के गायन के कारण देवता को प्रसन्न करने वाली होती है। तथा कापेय (कपि या वानर के समान सहज उछल-कूद) के सम्बन्ध से स्वाभाविक चेष्टा वाली भी होती है – ऐसा कहा जाए – तो यह भी अनुचित है, क्योंकि यह देवता को प्रसन्न करना है तो कापेय से क्या, और यदि कापेय है, तो देवता की प्रसन्नता कैसी? अब यह कहा जाएगा कि यह क्रिया नाट्य के उपकारक नृत्य द्वारा अनुकार्य की स्वाभाविक चेष्टा तथा देवता के आराधन से युक्त है, इसीलिए इसमें कहीं ताल व लय का आश्रय होता है, कहीं पात्र की अपनी चेष्टा रहती है, अन्त में आठ लोकपालों के साथ परमेश्वर की वन्दना भी होती है। सर्वत्र स्वभाव से ओतप्रोत होने से जाति (स्वभाव) को बिना छोड़े क्रिया का प्रयोग होता है।

अरे! हमने बहरे के आगे *रामायण* का वर्णन कर डाला जो यह कहा कि क्रियानृत्य किसी भी तरह नाट्य का उपकारक नहीं होता! स्वाभाविक चेष्टा इसमें होती है इस कथन का भी विरोध किया! देवता की आराधना इससे होती है उसमें भी कर्ता का विकल्प बताकर चञ्चलता की! इन सबका भी परस्पर संयुक्तावस्था में भी कोई विशेष बात उत्पन्न न होगी जिससे क्रियानृत्य की उपादेयता हो जाए।

टिप्पणी – उपर्युक्त कथन ग्रन्थकार ने नटों का उपहास करते हुए व्यंग्य में कहे हैं।

१०. प्रकरणोपसंहारः
(प्रकरण का उपसंहार)

जले कपर्दे काष्ठे च यत्रानास्था पृथक् पृथक्।
तत्रैतत् त्रिसमासेपि तथा स्यादतीव वा॥२१॥

यत्तु नृत्तं माङ्गलिकं देवस्तुत्यर्थमिष्यते।
करणैरङ्गहारैश्च समुद्भासि तथाविधम्॥२२॥

तस्य शोभानिमित्तस्य सर्वप्रीतिविधायिनः।
पूर्वरङ्गविधावेव प्रयोगो नान्यतः क्वचित्॥२३॥

---

[१५] स्वभावरूषित्वाद् जातिम् अमुक्त्वा – P

[१६] वर्णित् अस्माभिः – P

[१७] चपलताम् आनीतम् – P

[१८] येन उपादेयता – P

तस्मात् तदात्मतां प्राप्तुं क्रियेयं कथमर्हति।
पूर्वरङ्गाद् बहिर्भूता कथान्तर्विनिवेशिता॥२४॥

जल, कौड़ी व काष्ठ तीनों में अलग-अलग अनास्था हो, तो तीनों को मिला देने पर भी वह वैसी ही रहेगी या और बढ़ जाएगी॥२१॥

नृत्य मांगलिक है और देवता की स्तुति के लिए अपेक्षित है, वह करणों और अंगहारों से समुद्भासित होता है॥२२॥

इस शोभा के निमित्तभूत, सबकी प्रीति के विधायक नृत्य का प्रयोग पूर्वरंग की विधि में ही हो सकता है, अन्यत्र कहीं नहीं॥२३॥

इसलिए यह नृत्यक्रिया पूर्वरंग की तदात्मकता को कभी भी प्राप्त नहीं कर सकती, क्योंकि यह पूर्वरंग से बहिर्भूत है और कथा के भीतर निवेशित है॥२४॥

द्वितीयः अङ्कुशः (द्वितीय अंकुश)

क्रियायाः पूर्वरङ्गतानिराकरणम्
(क्रिया की पूर्वरंगता का निराकरण)

१. पूर्वरङ्गस्य नियतभावित्वं नृत्यस्यानित्यभावित्वं च
(पूर्वरंग का नियतभावित्व तथा नृत्य का अनियतभावित्व)

ननु पूर्वरङ्गोऽसौ, ततः खलु आदौ गौरीपरितोषकरी चारी परिगृह्यते, पर्यवसाने परिवर्तनं च। नैतत् साम्प्रतम्। पूर्वरङ्गो हि प्रस्तावनाया अपि प्राक् प्रयुज्यते। तथा च धनञ्जयमिश्रः –

"पूर्वरङ्गविधायादौ, सूत्रधारे विनिर्गते।
प्रविश्य तद्वदपरः, काव्यार्थं स्थापयेन्नटः॥"[१]

इति। इयं पुनः क्रिया प्रक्रान्ते वस्तुनि प्रस्ताव्यते।

अब यदि कहा जाए कि यह नृत्यक्रिया तो बस पूर्वरंग है, इसीलिए तो इसके पहले देवी गौरी को परितुष्ट करने वाली चारी की जाती है और अन्त में परिवर्तन किया जाता है। (चारी और परिवर्तन पूर्वरंग के अंग हैं। चाक्यार इनको नृत्यक्रिया के पहले और बाद में करते हैं, अतः नृत्यक्रिया भी इनके साथ पूर्वरंग का अंग मानी जानी चाहिए।)

तो यह कहना भी अनुचित है क्योंकि पूर्वरंग प्रस्तावना के भी पहले प्रयुक्त होता है। जैसा धनञ्जयमिश्र ने कहा है –

पहले पूर्वरंग करके सूत्रधार के चले जाने के बाद उसी के जैसा अन्य नट (प्रस्तावना द्वारा) काव्यार्थ की स्थापना करता है।

स्थापनान्तरोदञ्चत्कथाभ्यन्तरमास्थितः।
यत्नोऽसौ पूर्वरङ्गः किं मध्यरङ्गो न किं भवेत्॥२५॥

पूर्वरङ्गात्मतायां वा संसिद्धायामये कथम्।
तदङ्गमादिममियं चार्येवेत्यवधार्यते॥२६॥

नान्द्यन्ते नाटकारम्भः, कृतश्चेत् कथमेव वा।
भवेदस्मिन् क्रियापृष्ठे तदङ्गपरिवर्तनम्॥२७॥

अपि च पूर्वरङ्गः परस्ताद्भवानां सर्वेषां प्रयोगाणां मङ्गलार्थतया एकरूपः एकत्रैव कूटस्थो वर्तते। क्रिया तु तत्र तत्रैवास्ति।

---

[१] दशरू॰ ३.२।

जबकि यह नृत्यक्रिया वस्तु (नाटक की कथा) का आरम्भ हो चुकने पर प्रस्तावित की जाती है। (यदि इसे पूर्वरंग मानेंगे, तो) स्थापना के बाद उठने वाला और कथा के बीच में रखा गया यह (नृत्यक्रिया का) प्रयास पूर्वरंग क्यों कहा जाए, मध्यरंग क्यों न कहा जाए? ॥२५॥

यदि इसकी पूर्वरंगता साबित कर भी दी जाए, तो चारी को इसका पहला अंग कैसे कहा जा सकता है? ॥२६॥

नान्दी के अन्त में जब नाटक का आरम्भ हो चुका, तो इसमें नृत्यक्रिया के बाद किया जाने वाला परिवर्तन पूर्वरंग का अंग कैसे हो सकता है? ॥२७॥

और फिर – पूर्वरंग अपने बाद में किए जाने वाले समस्त प्रयोगों की मांगलिकता के प्रयोजन से एक जैसा किया जाता है, यह एक बार आरम्भ में पूर्वनिर्धारित रूप में ही होता है जबकि नृत्यक्रिया जहाँ-तहाँ की जा रही है।

२. नृत्यक्रियायाः वेषभाषादिवन्नाट्याङ्गतेति पूर्वपक्षिणः पुनस्तर्कः
(नृत्य वेश और भाषा आदि के समान नाट्य का अंग हो सकता है – इस पर पूर्वपक्षी का पुनः तर्क और उसका खण्डन)

सूत्रधाराणां पात्राणां दृश्यपात्राणां च प्रत्येकं विभिन्नरूपता च प्रायः। अथ एवं प्रतिनियतरूपतायां वेषभाषादिवद् एषाऽपि किमपि नाट्याङ्गम्।

तत्र तावदियं रसादिषु नाट्यपदार्थेषु अन्यतमया वाऽन्यथा[२] वा अङ्गं भवतीति निरूपणीयम्। न नूनम् अन्यतमतया, तथा हि न खल्वियं क्रिया शृङ्गारादिभङ्गीमङ्गीकरोति, विभावाद्यभिव्यङ्ग्यत्वाभावात्। भावेष्वपि न अन्तर्भावं भवेत्, वस्तुसंस्तवनिरस्तत्वात्। अभिनयमपि न पूर्यते[३], प्रकृत्यवस्थाभिव्यञ्जकत्वाभावात्। न च वृत्तिवर्तनीम् अनुवरीवर्ति, रूपकाधिष्ठानत्वाभावात्। प्रवृत्तिरेखामपि न रिङ्खति, दिग्विभागनिबन्धनत्वात्। स्वरातोद्यादिभावशङ्का एव न युक्ता, अशब्दाद्यात्मकत्वात्।

सूत्रधार तथा दृश्य (मंच पर प्रस्तुत) पात्र अलग-अलग होते हैं। इस प्रकार इसकी भिन्नता के कारण वेश और भाषा आदि की भाँति यह भी नाट्य का ही एक अंग कही जा सकती है।

यदि ऐसा है तो इस नृत्यक्रिया को नाटक की रस आदि कोटियों के समान इनमें से एक कोटि मानकर निरूपण किया जाना चाहिए। परन्तु यह रसादि के समान नाट्य की कोई कोटि भी नहीं हो सकती। क्योंकि यह क्रिया शृंगार आदि रसों की पद्धति को भी स्वीकार नहीं करती, इसमें विभाव आदि से रस या भाव व्यंग्य होते हों, ऐसा भी नहीं है। इसका भावों में भी समावेश नहीं किया जा सकता, क्योंकि इसमें कथावस्तु का परिचय ही नहीं रहता। इसे अभिनय भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह प्रकृति (पात्रों) की अवस्थाओं को प्रकट नहीं करती। धर्मी का तो रंग भी इसमें नहीं आ सकता, पास खड़े पात्र का संवाद भी दूसरा पात्र

---

[२] वा अन्यथा – P, वान्यथा – R

[३] पयते – P

न सुने, ऐसी कोई युक्ति इसमें नहीं रहती। वृत्ति की वर्तनी का भी यह नृत्यक्रिया अनुसरण नहीं करती, क्योंकि यह रूपकों का अधिष्ठान नहीं है। प्रवृत्ति की रेखा मात्र भी यह बराबरी नहीं कर सकती, क्योंकि अलग-अलग दिग्भागों के अनुसार अलग-अलग वेश इसमें नहीं होते। सिद्धि की सन्निधि (निकटता) में भी यह नहीं पहुँचते, क्योंकि यह प्रेक्षकों के आश्रित नहीं होती स्वर, आतोद्य (वाद्य) आदि की तो शंका ही नृत्यक्रिया के लिए नहीं करनी चाहिए, क्योंकि यह शब्दात्मक नहीं होती।

टिप्पणी – पूर्वरंग में सूत्रधार नट के रूप में ही रहता है, नाटक के पात्र के रूप में नहीं। ग्रन्थकार कूडियाट्टम् के नट की ओर से परिकल्पित इस पक्ष का खण्डन करते हैं कि हनुमान् के पात्र द्वारा *आश्चर्यचूड़ामणि* के षष्ठांक (अंगुलीयकांक) में की जाने वाली नृत्यक्रिया पूर्वरंग मानी जा सकती है, क्योंकि इस अंक में हनुमान् का पात्र सूत्रधार या पूर्वरंग का अनुष्ठान करने वाला नट नहीं हो सकता, वह नाटक का एक पात्र बन चुका है।

३. क्रियायाः निष्प्रयोजनतेति उत्तरपक्षः
(क्रिया निष्प्रयोजन है – इस सिद्धान्त पक्ष का प्रतिपादन)

द्वितीयपक्षे नियतं प्रयोजनेन भवितव्यम्। तदाह –

"नहि कार्यं विना किञ्चिन्नाट्येष्वङ्गं प्रवर्तते।"

इति। प्रयोजनं तु नानया इति प्रतिपादितम्। एवं क्रियास्वरूपे एव दुस्थिते तत्क्रमस्य विचारो न अतिकाङ्क्षणीयः तस्य तदीयत्वात्।

तथा हि अत्र क्रियाया चारीपरिग्रह क्रियते। चारी इति तालल्यभेदानुवर्ती कश्चित् नृत्यविशेषः। तामादाय मूर्छने विक्षेपेण समाप्य हास्यद्वितीयचारः समादीयते। ततःकोणनृत्तं पार्श्वनृत्तं च परिगृह्य विशिष्टरङ्गेन जातिग्रहात् मूर्छने विक्षेपः। पुनः "सकलसुरासुरं" पश्चात् "याशि याशि" इत्यादि। एवमन्यत्रापि। तदन्तरम् एतत्, एतदन्तरमिदम् इत्यस्ति क्रियाक्रमः, य एष परमरहस्यतया कथनाभिमानविषयो भवति।

इस द्वितीय पक्ष में (जिसके अनुसार नृत्यक्रिया रस, भाव आदि के समान नाट्य का अंग है) कोई प्रयोजन होना चाहिए। जैसा कहा गया है – प्रयोजन के बिना नाट्य में कोई अंग प्रवृत्त नहीं होता। परन्तु नृत्यक्रिया से कोई प्रयोजन भी प्रतिपादित नहीं हो रहा। इस तरह क्रिया का स्वरूप ही अनिश्चित है, तो (नाट्य के अंगों के बीच) उसके क्रम का विचार भी बहुत अपेक्षित नहीं हैं, क्योंकि क्रम का विचार स्वरूप विदित होने पर ही हो सकता है।

उदाहरणार्थ – क्रिया के आरम्भ में चारी को स्वीकार किया जाता है। चारी तो ताल और लय के विशेष प्रकार पर आधारित विशिष्ट नृत्य ही है। उसे लेकर मूर्च्छना में विक्षेप के साथ समाप्त करके दूसरी बार प्रचरण करना हास्यास्पद है। उसके पश्चात् कोणनृत्य और पार्श्वनृत्य को स्वीकार करके विशिष्ट रङ्गन के साथ जाति का ग्रहण कर मूर्च्छना में विक्षेप किया जाता है। फिर *सकलसुरासुर* और उसके *याशि याशि* इन श्लोकों का पाठ किया जाता है। अन्यत्र भी नृत्यक्रिया में यही होता है। इस प्रकार चारी के पश्चात् कोणनृत्य और पार्श्वनृत्य आदि – यही क्रम क्रिया में है – इसी को परम रहस्य मानकर चाक्यार गर्वित होते रहते हैं।

तत्र चार्याः समनन्तरं हास्यद्वितीयचारादीनां परिग्रहः किंनिमित्तः इति निरूपणं निरुपयोगम्। एतदाश्रयभूतायाः क्रियाया एव इह तावदेवमव्यवस्थित्वात्[४] का नाम निर्निमित्तपरग्रहे व्यवस्था भवति।

इसमें भी चारी के पश्चात् द्वितीय प्रचरण को लाने में क्या प्रयोजन है – इनका निरूपण तो अनुपयोगी ही है। इनकी आश्रयभूत क्रिया का इस प्रकार अव्यवस्थित होने से बिना कारण द्वितीय प्रचरण को स्वीकार करने में कोई व्यवस्था नहीं बनती।

४. क्रियायाः कारणगवेषणं निरर्थकमिति पूर्वपक्षिणस्तर्कः
(क्रिया के कारण की गवेषणा निरर्थक है – पूर्वपक्षी के इस मत का खण्डन)

ननु च परिदृश्यमानस्य वस्तुनः किं कारणान्वेषणेन। यदुक्तं –

कार्यं चेदवगम्येत किं कारणपरीक्षया।
कार्यं चेन्नावगम्येत किं कारणपरीक्षया॥२८॥

इति। अन्यथा अग्नेः धर्मः औष्ण्यम्, किन्निमित्तम् इति प्रतिप्रश्नः प्रसज्येत्।

अग्न्यौष्ण्ये स्वभावो निमित्तम् इति चेद् अत्रापि तथेति ब्रूमः।

उच्यते – अग्नेः सदातनो धर्म औष्ण्यम्[५], इयं क्रिया नाट्यस्य कादाचित्की। कादाचित्कस्य निमित्तेन भवितव्यम्, यथा घटस्य।

ननु अग्नेः औष्ण्यमपि न सदातनं, स्तम्भनमन्त्रेण कदाचित् विनष्टत्वात्।

मैवम्। तन्मन्त्रेण कादाचित्कं न स्वभावतः। न चैतावताऽग्नेरनौष्ण्यं[६] स्वभावः स्यात्। तथा औष्ण्यं विकृतिः इत्यापतेत्। तत्र किं कारणम् इति पृच्छायां स्तम्भनमन्त्रपरामर्शः इति वक्तव्यम्। तदा अग्निस्वरूपमात्रम् इत्युक्तं भवति। ततश्च औष्ण्यं स्वभाव इति सिद्धम्।

(इस पर पूर्वपक्षी चाक्यार यह कह सकते हैं) – जो वस्तु मंच पर दिखाया जाता रहा है उसके कारण या प्रयोजन के अन्वेषण से क्या लाभ? जैसा कहा ही है –

यदि कार्य समझ में आ रहा है, तो उसके कारण की परीक्षा से क्या होगा? और यदि कार्य समझ में नहीं आ रहा है, तो भी उसके कारण की परीक्षा से क्या होगा॥२८॥

(पूर्वपक्षी का पुनः कथन) यदि इस तरह कारण की परीक्षा करने लगेंगे तो, अग्नि के उष्ण होने के पीछे क्या कारण है – इस तरह का प्रश्न उठने लगेगा। जो कारण अग्नि के उष्ण होने में है वही यहाँ नृत्यक्रिया में भी है – यह हमारा उत्तर होगा।

चाक्यार के इस प्रतिप्रश्न के समाधान में हमारा कहना ये है – उष्णता तो अग्नि का सदा का धर्म है,

---

[४] तावदेवम् अव्यवस्थित्वात् – P

[५] धर्मः औष्ण्यम् – P

[६] न च एतावता अग्नेः अनौष्ण्यं – P

जबकि नाटक में यह क्रिया कादाचित्की (जो कभी हो, कभी न हो) है। कदाचित्क वस्तु का भी तो कोई कारण होना चाहिए जैसे कुम्हार द्वारा बनाए जाने वाले घट का कारण होता है।

(इस पर चाक्यार की ओर से फिर यह प्रतिप्रश्न किया जा सकता है कि) अग्नि की उष्णता भी तो सदा रहने वाली नहीं है, वह स्तम्भन मन्त्र से कभी विनष्ट भी हो सकती है।

(उत्तर) – यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मन्त्र के द्वारा कभी-कभी किया जा सकता है, उष्णतानाश अग्नि में स्वाभाविक नहीं है। ऐसी स्थिति में अनुष्णता को तो अग्नि का स्वभाव नहीं माना जाएगा, ऐसा मानने पर अनुष्णता अग्नि की प्रकृति और उष्णता विकृति कही जाने लगेगी। अग्नि अनुष्ण क्यों है यह पूछा जाए तो स्तम्भ मन्त्र का प्रयोग किया गया है, अतः अनुष्ण है – यह कारण बताया जा सकता है। इससे अग्नि का स्वरूप भी विदित होता है और उष्णता का स्वभाव है – यह भी।

अथ नाट्यस्य सदासम्बन्धिनी इयं क्रिया, किंतु कथानटनेन किञ्चित् तिरोभूयते इत्युच्यते। यद्येवं नाट्यस्य क्रियात्मकत्वं स्यात्, वाचिकाद्यभिनयचतुष्टयात्मकत्वम् अस्तमियात्। तेन स्वरूपहानिरेव भविष्यति। तस्मात् क्रिया न नाट्यस्य स्वभावं किन्तु विकृतिरेव। विकृतेस्तु कारणं वक्तव्यम्, यथा जलौष्ण्यस्य।

यत् पुनः "कार्यं चेद्" इत्यादि वर्णितं तन्न युक्तम्। तथा सति निमित्तव्यवहारस्य एव विलयप्रसङ्गात्। न चैतद् अत्र वक्तुं युज्यते।

तथा हि "सम्प्रति हि" प्रयोगस्य च "मैनाकं नागकन्येत्यादि" प्रयोगस्य च "सम्प्रति हि", (तथा च) "मैनाकं नागकन्या" इत्यादि ग्रन्थो मूलं निमित्तं दृश्यते।[७] तयोर्मध्ये प्रयुज्यमानायाः अस्याः क्रियायाः निमित्तं न दृश्यते[८] ततः सहचारभिन्नत्वाद् इयं विचारणा किमत्र निमित्तमिति। न तावत् पूर्वोक्तप्रयोगयोरिव नाटकम्। तत्र हि "मैनाकं नागकन्ये"-त्याद्येव[९] दृश्यते, न पुनः सम्प्रति हि, (क्रियां कृत्वा)[१०] मैनाकं नागकन्येत्यादि[११]।

यदि चाक्यार यह कहे कि नृत्यक्रिया तो नाट्य में सदा पिरोई रहने वाली वस्तु है, परन्तु जब कथा का अभिनय होता है, तो यह कुछ छिपी रहती है, तो इस पर हमारा उत्तर है – तब तो ऐसी स्थिति में नाट्य की क्रियात्मकता (नृत्यरूपता) हो जाएगी, उसका आंगिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य इन चारों अभिनयों से समन्वित स्वरूप अस्त हो जाएगा। इससे तो नाट्य के निजी स्वरूप की क्षति होगी। इसलिए

---

[७] मैनाकं नागकन्यासुरतसुहृदमुल्लङ्घ्य बन्धुं पयोधे
राकर्षन् वेगवश्यं दिव इव शिथिलं चर्म जीमूतजालम्।
लङ्कां प्राप्तोऽस्मि देवं गुरुमपि मम विस्मापयन्नाशुगत्या
राज्ञो रामस्य देव्यै प्रहित इव शरो धारयन्नङ्गुलीयम्।।
– *आ॰चू॰* ६.१

[८] निमित्तं (न) दृश्यते – P, निमित्तं न दृश्यते – R

[९] नागकन्या इत्याद्येव – P

[१०] पुनः सम्प्रति हि, (क्रियां कृत्वा) – P, न पुनः सम्प्रति हि, (क्रियां कृत्वा) – R

[११] नागकन्या-इत्यादि – P

नृत्यक्रिया को नाट्य का स्वभाव नहीं, विकार ही माना जाना चाहिए। यदि ये विकार है तो, इसका कारण बताना आवश्यक है, जिस तरह (शीतलता जल का स्वभाव है, उष्णता उसमें विकार, तो) जल में उष्णता का कारण (अग्निसंयोग आदि) बताया जाता है।

और यह जो तर्क दिया गया है कि यदि कार्य समझ में आ रहा है, तो कारण जानने से क्या? – वह भी ठीक नहीं है। इस तरह के तर्क से तो संसार में कार्य–कारण-व्यवहार का लोप हो जाएगा। ऐसा लोप यहाँ होना उचित नहीं कहा जा सकता। जैसे कि *सम्प्रति हि* इत्यादि (पाठ) के प्रयोग में या *मैनाकं नागकन्या* इत्यादि (पाठ) के प्रयोग में। *सम्प्रति हि ... मैनाकं नागकन्या ...* इत्यादि मूलग्रन्थ के पाठ में मूल निमित्त है। इन दोनों के बीच प्रयुज्यमान इस क्रिया का निमित्त नहीं दिखाई देता। इसलिए सहचार भेद के कारण यह विचार अपेक्षित है कि इसका निमित्त क्या है? पूर्वोक्त प्रयोग की भाँति मूल नाटक का पाठ निमित्त नहीं कहा जा सकता, क्योंकि मूल नाटक के पाठ में *मैनाकं नागकन्या* ... इतना ही पाठ है, *सम्प्रति हि* ... के पश्चात् नृत्यक्रिया करके यह नाट्य निर्देश दिया गया हो और फिर *मैनाकं नागकन्या* ... यह पाठ आए ऐसा नहीं।

५. क्रिया अभिधया लक्षणया वा बोध्येति पक्षस्य खण्डनम्
(क्रिया अभिधा या लक्षणा से सूचित है – इस पक्ष का खण्डन)

न च "सम्प्रति हि" शब्दस्यैवं[१२] प्रयोक्तव्या क्रिया अर्थः स्यादप्रसिद्धेः[१३]। न हि शब्दस्य अभिधाव्यापारः समयाभावात्। न लक्षणा गौणी वा मुख्यार्थबाधाभावात्।

यह भी नहीं कह सकते कि *सम्प्रति हि* ... इन शब्दों पर जो नृत्यक्रिया की जा रही है, वह उनका अर्थ है, क्योंकि इन शब्दों की इस तरह की नृत्यक्रिया के अर्थ में प्रसिद्धि नहीं है। इस तरह का अर्थ अभिधा व्यापार से नहीं बताया जा सकता। क्योंकि शब्दों का समय (संकेत) कथित नृत्यक्रियात्मक अर्थ में नहीं है। मुख्यार्थबाध आदि (तीन हेतुओं) के अभाव में लक्षणा या गौणीवृत्ति भी काम नहीं करेगी।

टिप्पणी – आश्चर्यचूड़ामणि में "मैनाकं नागकन्या..." इत्यादि श्लोक के पहले गद्यबद्ध संवाद में सम्प्रति हि – यह आधा वाक्य है। पूर्वपक्षी का कथन है कि सम्प्रति हि – इस कथन से क्रियानृत्य किया जाए यह अर्थ द्योतित होता है। ग्रन्थकार की आपत्ति है –

न च "सम्प्रति हि" शब्दस्य एवं प्रयोक्तव्या क्रिया अर्थः स्यात् अप्रसिद्धेः। न हि शब्दस्य अभिधाव्यापारः समयाभावात्। न लक्षणा गौणी वा मुख्यार्थबाधाभावात्।

अर्थात् "सम्प्रति हि" इन शब्दों की क्रियापरक अर्थ में प्रसिद्धि नहीं है। यह वाक्यांश क्रियानृत्य किया जाए ऐसा आशय न तो अभिधा से बता सकता है, न लक्षणा से न व्यञ्जना से ही। इस सम्बन्ध में वे काव्यप्रकाशकार मम्मट के विवेचन को आधार बनाते हैं। *काव्यप्रकाश* के द्वितीय उल्लास में बताया गया है कि "गङ्गायां घोषः (गंगा नदी के ऊपर ग्वालों की बस्ती है)" इस वाक्य के मुख्य या साक्षात् संकेतित अर्थ का बाध हो जाता है क्योंकि नदी के प्रवाह पर बस्ती नहीं हो सकती। तब प्रयोजनविशेष से उससे सम्बन्धित गंगा के किनारे ग्वालों की बस्ती है – लक्षणा से लिया जाता है। प्रयोजनविशेष

[१२] शब्दस्य एवं – P

[१३] स्यात् अप्रसिद्धेः – P

शैत्य, पावनत्व आदि उस बस्ती के धर्मों या विशेषताओं की प्रतीति कराना है। प्रयोजन की यह प्रतीति व्यञ्जना से ही होती है। मम्मट पूर्वपक्षी के इस मत का खण्डन करते हैं कि प्रयोजन की प्रतीति अभिधा से हो सकती है या लक्षणा से हो सकती है। अभिधा साक्षात् संकेतित अर्थ का ही बोध कराती है और "गङ्गायाम्" इस पद से "गङ्गातटे" यह अर्थ साक्षात् संकेतित नहीं होता। यदि पूर्वपक्षी कहे कि लक्षणा से इस अर्थ का बोध हो सकता है, तो यह कथन भी उचित नहीं है, क्योंकि लक्षणा मुख्यार्थबोध, मुख्यार्थयोग तथा रूढ़ि या प्रयोजन इन तीन हेतुओं पर आश्रित है और ये तीनों हेतु यहाँ लागू नहीं हो रहे। पूर्वपक्षी यदि फिर कहे कि प्रयोजन को भी लक्ष्यार्थ का ही अंग मानकर लक्षणा से इसकी प्रतीति कराई जा सकती है। तब सिद्धान्तपक्षी कहता है कि यदि शैत्य-पावनत्व-रूप प्रयोजन को लक्ष्यार्थ से विदित मान लिया जाएगा, तो इस द्वितीय लक्षणा के लिए फिर एक प्रयोजन मानना पड़ेगा, उसके लिए फिर तीसरी लक्षणा करनी पड़ेगी, इस तीसरी लक्षणा का फिर एक प्रयोजन बताना पड़ेगा, और उसके प्रयोजन की प्रतीति के लिए चौथी लक्षणा करनी पड़ेगी। इस तरह लक्षणाओं की अनन्त शृंखला बनती चली जाएगी।[१४] शास्त्र में इसे अनवस्था या आनन्त्य दोष कहा जाता है। नटाङ्कुशकार ने यहाँ मम्मट के *काव्यप्रकाश* की शब्दावली ही दोहरा दी है, जिससे विदित होता है कि उन्होंने काव्यशास्त्र का गहरा अध्ययन किया था।

६. क्रियायां मुनिवचनं प्रामाण्यमिति पक्षस्य खण्डनम्
(क्रिया या नृत्य जोड़ने के लिए भरतमुनि का वचन प्रमाण है – इस पक्ष का खण्डन)

न च मुनिवचनमत्र[१५] निमित्तम्, अङ्कादौ कथापात्रं प्रविश्य प्रथमवाक्यैकदेशम् उक्त्वा क्रियां विदधीत इति तत्कृतौ अदर्शनात्।

अथ भरते, अन्यत्र वा नाट्यशास्त्रे यत्र कुत्रापि एतन्मूलं किञ्चिद् वचनं स्याद् इति। अस्तु, तत्कीदृशम् उच्यताम्। न हि वचनम् अश्रुत्वा गृह्यते। अथ तादृशं किञ्चिद् वचनं स्याद् इत्येवालम् इति साधु सम्पन्नम्।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि मुनि (भरत) का वचन इस नृत्यक्रिया में निमित्त है, उनकी कृति (*नाट्यशास्त्र*) में ऐसा कोई निर्देश नहीं है कि अंक के आरम्भ में कथा का कोई पात्र प्रवेश करके पहले वाक्य का ही एक अंश बोलकर नृत्यक्रिया करने लग जाए।

यदि यह कहो कि भरतमुनि या उनके *नाट्यशास्त्र* के अतिरिक्त अन्य किसी आचार्य के ग्रन्थ में इस नृत्यक्रिया को बताने वाला मूल पाठ होगा (जो मिलता नहीं है)। माना कि ऐसा मूल पाठ रहा होगा, तो बताईए कि वह कैसा है? वचन को सुने बिना तो स्वीकार नहीं किया जा सकता। यह तो बड़ी अच्छी बात हुई कि ऐसा कुछ वचन था – यह मान लेना ही (आपके लिए) पर्याप्त है।

---

[१४] नाभिधा समयाभावाद् हेत्वाभावान्न लक्षणा।
लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधो योगः फलेन नो।
न प्रयोजनमेतस्मिन् न च शब्दः स्खलद्गतिः॥
विशिष्टे लक्षणा नैवं, विशेषाः स्युस्ते लक्षिते।
एवमप्यनवस्था स्याद् या मूलक्षयकारिणी। – *का॰प्र॰*, उल्लास २

[१५] मुनिवचनम् अत्र – P

७. क्रियायाः साध्यत्वे हेत्वाभासाः
(नृत्यक्रिया की साध्यता में हेत्वाभास)

प्रतिज्ञां शङ्कितेनैव साधयन् हेतुना सुधीः ।
हेतुं प्रतिज्ञीकुरुते प्राक् प्रतिज्ञां च मुञ्चति ॥२९॥

प्रतिज्ञां शङ्कितेनैव साधयन् हेतुना सुधीः ।
बाष्पेण शैलमूलस्थं निश्चिनोति हुताशनम् ॥३०॥

अत्र क्रिया किलातीव प्रधानं तत्र किञ्चन ।
न दृष्टमूलमद्यापि तदेतत् पुनरूह्यते ॥३१॥

अत्र क्रिया किलातीव प्रधानं तत्र किंचन ।
न दृष्टमूलमद्यापि नाट्यसर्वस्ववेदिना ॥३२॥

शंकित या संदिग्ध हेतु से कोई सुधी (समझदार) प्रतिज्ञा को साबित करता है तो वह हेतु को ही प्रतिज्ञा बना लेता है, और प्रतिज्ञा को छोड़ देता है ॥२९॥

शंकित हेतु से प्रतिज्ञा को साबित करने वाला सुधी व्यक्ति पर्वत पर अग्नि को तुषार से साबित करना चाहता है ॥३०॥

यदि क्रिया यहाँ अत्यन्त ही प्रधान है, तो उसका मूल तो कहीं दिख नहीं रहा, उसका बार-बार ऊह किया जा रहा है ॥३१॥

यदि क्रिया यहाँ अत्यन्त ही प्रधान है तो उसका मूल नाट्य का सर्वस्व जानने वाले (आप) द्वारा अभी तक भी नहीं देखा गया है – यह कैसे? ॥३२॥

टिप्पणी – नटाङ्कुशकार ने यहाँ न्यायदर्शन के निग्रहस्थानों का प्रयोग करते हुए एक अच्छे वादपुरुष की तरह चाक्यारों पर तर्क-कर्कश प्रहार किया है। न्यायदर्शन में सोलह पदार्थ बताए गए हैं, जिनके तत्त्वज्ञान से मुक्ति प्राप्त होती है। ये सभी पदार्थ या कोटियाँ वाद या जल्प (शास्त्र-चर्चा तथा बहस) में प्रयोज्य हैं। बहस की दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण पदार्थ है निग्रहस्थान। निग्रह का अर्थ है – धरपकड़। वादी और प्रतिवादी तर्क के जंजाल में कहाँ कब किसको दबोच लें – यह निग्रहस्थान समझकर वे जान सकते हैं। गौतम के *न्यायसूत्र* के अनुसार तो निग्रहस्थान प्रतिपक्षी की पराजय की कुञ्जी है। उन्होंने निग्रहस्थान को पराजय वस्तु कहा है। *न्यायसूत्र* की परम्परा में बाईस निग्रहस्थान माने गए हैं। इनमें से प्रतिज्ञाहानि (विरोधी द्वारा दिए गए दृष्टान्त के धर्म को स्वीकार कर लेना), प्रतिज्ञाविरोध (प्रतिज्ञा और हेतु का विरोध), अर्थान्तर (प्रकृत अर्थ से असम्बद्ध अर्थ का प्रतिपादन), अप्राप्तकाल (पञ्चावयव वाक्य के पाँच अवयवों के क्रम का निर्वाह न होना), न्यून (पञ्चावयव वाक्य के पाँच अवयवों में किसी एक या एकाधिक अवयव की कमी) तथा हेत्वाभास (दूषित हेतु) – इनका नटाङ्कुशकार ने यहाँ प्रयोग किया है। उन्होंने चाक्यारों के इस पूर्वपक्ष का खण्डन किया है कि नाटक के प्रयोग में बीच-बीच में क्रियानृत्य की आवश्यकता है। "सम्प्रति हि" कहकर "मैनाकं नागकन्या" इत्यादि श्लोक को संवाद के रूप में बोलने के पहले क्रियानृत्य अपेक्षित है – यह पूर्वपक्षी का प्रतिज्ञावाक्य हुआ। नटाङ्कुशकार

यह सिद्ध करते हैं कि इस प्रतिज्ञावाक्य का हेतु मिथ्या है, उसके विरुद्ध है या प्रकृत अर्थ से असम्बद्ध है। इस प्रकार वे निग्रह स्थानों का सटीक प्रयोग करते हैं।

८. आचारस्योपलब्धेः आगमप्रमाणमूलमावश्यकम्
(प्रचलित आचरण के मूल में आगम प्रमाण होना आवश्यक)

अथैवमाचर्यत इत्येदेव पर्याप्तमिति चेत्[१६], मैवम्।

आचारस्योपलब्ध्यैव न साधुत्वं व्यवस्थितम्।
किं त्वागमने युक्त्या वा लोकेच्छालब्धजन्मना॥३३॥

यदि कहा जाए कि ऐसा किया जाता है (ऐसा रिवाज़ चला आ रहा है) इतना ही पर्याप्त है – तो यह भी ठीक नहीं।

ऐसा रिवाज़ चला आ रहा है – इतने भर से किसी आचरण की साधुता स्थापित नहीं मानी जा सकती।

यह साधुता लोक की इच्छा से जनित आगम (शास्त्र प्रमाण) से या युक्ति (तर्क) से ही स्थापित मानी जा सकती है॥३३॥

९. आचारस्य स्मृतिमूलकतायां स्मृतेः प्रत्यक्षत्वमपेक्षितम्
(आचार की स्मृतिमूलकता में स्मृति का प्रत्यक्ष होना आवश्यक)

नन्वाचारेण तन्मूलस्मृतिसम्भावना भवेत्।
आचारेण स्मृतिं ज्ञात्वा, स्मृतेश्च श्रुतिकल्पताम्॥३४॥ इति।

उच्यते –

स्मृत्या प्रत्यक्षया भाव्यम् आचारे मूलभूतया।
स्मृतेस्तु मूलं प्रत्यक्षं परोक्षं वेति सूरयः॥३५॥

स्मृतेरपि परोक्षत्वे किं मध्यगतयानया।
कल्प्यते श्रुतिरेवेति स्मृतिं ज्ञात्वेत्यनर्थकम्॥३६॥

अस्त्यत्र वचनं मूलं, तत्तु नाधिगतं मया।
इति चेन्नाट्यसाधुत्वे वादस्तव न शोभते॥३७॥

वचनं विस्मृतं यच्च, यच्च नाधिगतं तथा।
शशशृङ्गायमानेन तेन वादेषु किं फलम्॥३८॥

यदि कहा जाए कि प्रचलित आचरण से उसके मूल में कोई स्मृति (ग्रन्थ) हो – ऐसी सम्भावना बनती है और आचरण से स्मृति को समझकर स्मृति से श्रुति की कल्पना की जा सकती है। तो इसके उत्तर में कहते हैं – इस कथित आचरण का मूल प्रत्यक्ष या परोक्ष दोनों प्रकार का हो सकता है॥३५॥

---

[१६] अथ एवम् आचर्यते इति एतदेव पर्याप्तम् इति चेत् – P

यह स्मृति ही परोक्ष है, तो बीच की कड़ी के रूप में इसे स्वीकार करने का क्या अर्थ? क्योंकि ऐसी स्मृति को मानकर श्रुति की कल्पना की जाए यह निरर्थक होगा॥३६॥

यदि यह कहा जाए कि स्मृतिवचन हमारे आचरण के मूल हैं, परन्तु वे हमें विदित नहीं हैं – तो अपने काम की साधुता स्थापित करने के लिए आपका यह वाद अच्छा नहीं लगता॥३७॥

जो वचन न स्मृति है, न प्राप्त है, तो खरगोश के सींग के समान ऐसे (तथाकथित स्मृतिवचन) के द्वारा वाद बढ़ाने से क्या लाभ?॥३८॥

१०. अप्रतिषिद्धम् अनुमतं स्यादिति मतस्य खण्डनम्
(अप्रतिषिद्ध की अनुमति है – इस मत का खण्डन)

ननु अत्र क्रिया न प्रयोक्तव्येति[१७] प्रतिषेधो नास्ति, ततस्तत्परिग्रहः, अप्रतिषिद्धमनुमतं भवतीति[१८] न्यायात्।

उच्यते – यद्येवम्, अत्र किमिति कीचकवधो न प्रयुज्यते। असङ्गतेः इति चेत् क्रियाप्रयोगस्य का सङ्गतिः इति[१९] वक्तव्यम्।

यदि यह कहते हो कि नृत्यक्रिया न की जाए – तो ऐसी कहीं मनाही तो है नहीं। इसलिए हम इस नृत्यक्रिया को स्वीकार करते हैं, क्योंकि यह नियम है कि जिसका निषेध नहीं किया गया, उसकी अनुमति मानी जा सकती है।

उत्तर में कहते हैं – यदि ऐसी बात है, तो फिर इसी स्थल पर कीचकवध का प्रयोग क्यों नहीं कर देते? यदि कहते हो कि कीचकवध का प्रसङ्ग यहाँ जोड़ने में तो कोई संगति नहीं है, तो क्रिया के प्रयोग की ही क्या संगति है – यह बताना होगा।

११. क्रियायाः नाट्यशास्त्रोक्तत्वस्य खण्डनम्
(क्रिया के नाट्यशास्त्र प्रतिपादित होने का खण्डन)

अथ नाट्यशास्त्रोक्तत्वम्। नाट्यशास्त्रे हि पूर्वरङ्गापरपर्याया क्रिया उच्यते इति न। पूर्वरङ्गस्य सूत्रधारप्रवेशात् प्रागेव प्रयोगः इत्युक्तम्। तस्माद् अत्र कीचकवधप्रयोगसदृशोऽयं क्रियाप्रयोगः सोऽपि प्रयुज्यताम् इति चेन्न[२०], व्यवस्थाविलयप्रसङ्गात्। पश्यतु भवान् –

नेत्रयोरञ्जनं ज्ञेयम्, इत्युक्तेऽत्र न वारणम्।
इति गण्डतलेऽपि त्वम् अञ्जनं न करोषि किम्॥३९॥

---

[१७] प्रयोक्तव्या इति – P

[१८] ततः तत्परिग्रहः, अप्रतिषिद्धम् अनुमतं भवति इति – P

[१९] असङ्गतेः इति चेत् क्रियाप्रयोगस्य का सङ्गतिः इति – P

[२०] चेत् न – P

तथाचारो न दृष्टश्चेद् आचारस्यापि तद्वचः।
मूलमित्युदितान्यस्यग्राही भूम्नाभियुज्यते॥४०॥

वचनस्यायमाचारो मूलमित्युच्यते यदि।
अस्य स्थिरत्वादप्रोक्तं, नैवोपादेयमण्वपि॥४१॥

यदि पूर्वपक्षी की ओर से यह तर्क दिया जाए कि भरतमुनि ने *नाट्यशास्त्र* में क्रिया का विधान किया है, *नाट्यशास्त्र* में निरूपित पूर्वरंग इस क्रिया का ही दूसरा पर्याय है – तो यह कहना भी ठीक नहीं। पूर्वरंग का प्रयोग तो सूत्रधार के प्रवेश के पहले ही कहा गया है इसीलिए यहाँ पर क्रिया का प्रयोग कीचकवध के प्रयोग के समान है। यदि यह कहा जाए कि ऐसा होने पर भी यह प्रयोग चलेगा, तो यह भी उचित नहीं। ऐसे तो व्यवस्था का ही लोप हो जाएगा। आप (यह भी) देखें –

आँखों में अञ्जन लगाया जाए यह विधान है, निषेध नहीं – यह मानकर तुम गालों पर भी अञ्जन क्यों नहीं लगा लेते?॥३९॥

यदि यह कहा जाए कि कपोल पर अञ्जन लगाने का रिवाज़ कहीं देखा नहीं है, तो इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि प्रायः प्रत्येक आचार या रिवाज़ के मूल में कोई शास्त्रवचन होता है॥४०॥

वचन का मूल यह आचार है – यह कहा जाए तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि शास्त्रवचन स्थिर हैं, आचार अस्थिर या परिवर्तनशील। अतः (शास्त्र में) जो नहीं कहा गया, उसे लेशमात्र भी ग्रहण नहीं करना चाहिए॥४१॥

१२. अनुक्तपरिग्रहे आगमवैयर्थतापत्तिः
(अनुक्त के ग्रहण में आगम की निरर्थकता की आपत्ति)

किञ्च उक्तस्य चानुक्तस्य[२१] च परिग्रहे आगमस्य निरर्थकत्वं स्यात्। कथं नाम इदमनुक्तं परिगृह्येत। इह खलु द्विविधमुक्तं, सव्यावर्त्यमव्यावर्त्यं[२२] चेति। सव्यावर्त्ये अव्यावर्त्यस्य स्वरूपस्य अनुक्तस्य निषेधः सम्पद्यते यथा "वासो वल्कलमास्पदं विटपिन"[२३] इत्यादौ। अत्र न क्षौमं न सौधशृङ्गम् इत्यादि सेत्स्यति। वस्त्वन्तरस्य न प्रसङ्गः यस्य परिग्रहः स्यात्। अव्यावर्ते न किंचिदन्यत् प्रसज्यते। तथा "सपत्नीकस्य रामस्य"[२४] इत्यादौ अत्र हि सपत्नीकत्वादिना अर्थेन न अन्योऽर्थो व्यवच्छिद्यते। क्वचिद् अन्यस्य प्रसङ्ग एव नास्ति, क्वचित् प्रसक्तस्य निषेधः इति न कुत्रचिदपि अनुक्तस्य परिग्रहावकाशः।

---

[२१] च अनुक्तस्य – P

[२२] इदम् अनुक्तं परिगृह्येत। इह खलु द्विविधम् उक्तं, सव्यावर्त्यम् अव्यावर्त्यं – P

[२३] वासो वल्कलमास्पदं विटपिनो वन्यं शरीरस्थितिः शाखा दर्भलता प्रसाधनमपां वर्षी जटानां भरः।
बाले किं बहुना वने वनमृगन्यायस्य न त्वं पदं सारङ्गाक्षि तपोभृतः क्व तपसां शत्रुः क्व सङ्कल्पजः।।
– *आ॰चू॰* १.९ (लक्ष्मण का शूर्पणखा के प्रति कथन)

[२४] सपत्नीकस्य रामस्य वर्तयन् वन्यमास्पदम्।
ज्याघोषेणैव सौमित्रिर्दुष्टसत्त्वानपोहति॥ – *आ॰चू॰* १.४ (सूत्रधार का कथन)

ग्राह्यत्व एव कथिते समुन्मिषति केवलम्।
अनुक्तं भवदग्राह्यम्, इति शब्दाध्वनि स्थितिः॥४२॥

यदि शास्त्र में जो कहा गया है उसे भी ग्रहण कर लिया और जो नहीं कहा गया, उसे भी ग्रहण कर लिया, तो आगम या शास्त्र निरर्थक हो जाएगा। अतः (क्रिया रूप जो आचार) नहीं बताया गया उसे कैसे ग्रहण कर लिया जाए? शास्त्र के निर्देश दो प्रकार के हैं – सव्यावर्त्य (अन्य का प्रवेशत्याग व एक का ग्रहण निर्दिष्ट कराने वाले) तथा अव्यावर्त्य (किसी का भी त्याग न सूचित कराने वाले)। सव्यावर्त्य में अव्यावर्त्य का बिना कहे निषेध स्वतः हो जाता है, जैसे (राम के विषय में) वल्कल का वस्त्र तथा वृक्ष के नीचे निवास। इस कथन में अव्यावर्त्य का निषेध नहीं मानेंगे तो राम को (वनवास के समय) क्षौम (रेशम वस्त्र) पहना दिए जाएंगे तथा राजप्रासाद में उनका निवास प्रदर्शित कर दिया जाएगा। यह कथन सव्यावर्त्य होने से (रेशमी वस्त्र व प्रासाद में निवास आदि) अन्य वस्तु के स्वीकार का यहाँ कोई प्रसंग ही नहीं है। अव्यावर्त्य कथन में अन्य किसी की प्रसक्ति ही नहीं होती, जैसे सपत्नीक राम का इस वर्णन में अन्य अर्थ का निराकरण नहीं होता। (राम सपत्नीक वन जा रहे हैं, अन्य लक्ष्मण आदि उनके साथ रह सकते हैं।) इस प्रकार कहीं अन्य का प्रसंग ही नहीं उठता, तो कहीं प्रसक्त का निषेध हो जाता है। इस प्रकार जो नहीं कहा गया, उसका कहीं अवकाश नहीं है।

शब्द के मार्ग में स्थिति है कि ग्राह्यत्व की बात उठते ही आपके द्वारा अग्राह्य बातें ही ऊपर आती हैं॥४२॥

१३. विषं भक्षयेत्यादि वाक्ये अप्रतिषिद्धस्यानुमतेः खण्डनम्
(विषं भक्षय इस वाक्य में अप्रतिषिद्ध के अनुमत होने का खण्डन)

"विषं भक्षय, मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः" इत्यत्र विषभक्षणादपि कष्टमेतद् गृहे भोजनम्, अतः अस्य गृहे मा भुङ्क्थाः इत्येतदेव उक्तं तात्पर्यक्रोडीकृतस्यपि अर्थस्य उक्तत्वात्।[२५] तथा "देवदत्तो न आगतः" इत्यादि क्वचिद् गतः इत्यादिकम् उक्तं स्यात्। एवम् उक्तमेव ग्राह्यम् इति स्थितमेतत्।

अप्रतिषिद्धम् अनुमतं भवति इत्यस्य प्रतिषेद्ध्यप्रसङ्गो विषयः। "अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवद्" इत्युक्ते तूष्णीं भवता मीमांसकेन अनित्यत्वम् अनुमतं भवति, असिद्धो हेतुरित्यत्यकथनात्[२६]।

न च एवम् अत्र "सम्प्रति हि" "मैनाकं नागकन्येत्यादौ" बोद्धव्याद्यौचित्यबलात् क्रिया प्रसक्ता येन क्रिया न निषिद्धा इति तत्परिग्रहः क्रियते।

यह जो तर्क दिया है "विष (भले) खा लो, (पर) इसको घर में भोजन मत करना" इस वाक्य में *इस व्यक्ति के घर भोजन करना विषभक्षण से बुरा है* इतना ही कहा है, वही बात तात्पर्य के भीतर भी समा गई है, वही बात कह भी दी गई है। साथ ही *देवदत्त नहीं आया* ऐसा कहने पर देवदत्त (कहीं और) चला

---

[२५] "विषं भक्षय, मा च अस्य गृहे भुङ्क्थाः" इत्यत्र विषमभक्षणादपि कष्टम् एतत् गृहे भोजनम्, अतः अस्य गृहे मा भुङ्क्थाः।

[२६] हेतुः इत्यकथनात् – P

गया है – इत्यादि बातें कही जा सकती हैं। अतः यही सिद्धान्त स्थिर हुआ कि शास्त्र में जो उक्त है, वही ग्राह्य है, (अनुक्त नहीं)।

जिसका निषेध नहीं किया गया, उसकी अनुमति दे दी गई – ऐसा तर्क करने पर यह बताना पड़ेगा कि प्रतिषेध्य या निषिद्ध किए जाने वाली बात का प्रसंग क्या है? शब्द *अनित्य* है, क्योंकि *घट के समान वह भी कृत या निर्मित है* – ऐसा तर्क देने पर आप मीमांसक लोग चुपचाप शब्द की अनित्यता स्वीकार कर लेते हैं – क्योंकि इसके *कृतक होना* यह हेतु असिद्ध है – यह बात कही गई। (जिस प्रकार घट उत्पाद्य या कृत है, उसी तरह शब्द उत्पाद्य नहीं है, अतः कृतकत्व अथवा उत्पादत्व हेतु इस व्याप्ति में असिद्ध हो जाता है।)

यह भी कहना ठीक नहीं है कि "सम्प्रति हि" तथा "मैनाकं नागकन्या" इत्यादि संवादों में बोद्धव्य (श्रोता) आदि के औचित्य को देखते हुए क्रिया का प्रसक्ति या जारी किया जाना उचित है, क्योंकि क्रिया का निषेध नहीं किया गया, अतः उसका ग्रहण कर लिया गया।

१४. पुनः पूर्वपक्षस्योत्थापनम्
(पूर्वपक्ष का पुनः उत्थापन)

यद्येवम् अत्र गीतवदित्रवेषादिपरिग्रहो न युक्तः स्यात्। न हि नाटके गीतादिकम् उक्तम्।

उच्यते –

इह प्रावेशिकोक्त्यैव नाटकादिषु सिद्ध्यति।
वेषाङ्गिकादिसहिता रामाद्यनुकृतिः स्फुटम्॥४३॥

अन्यथा विशतेः कर्म किं रङ्गेण विना भवेत्।
कश्चार्थो वर्तमानोऽस्य लट इत्यतिदुर्घटम्॥४४॥

रामः प्रविशतीत्यत्र न साक्षाद्राम उच्यते।
किंतु रामानुकर्तैव तादूप्येणोपचारतः॥४५॥

भवत्यनुकृतौ वेषः स्वत एवावलम्बनम्।
सुखदुःखाद्यवस्थानां कार्यभूताङ्गिकादि च॥४६॥

तदा विना न वेषादीन् प्रवेश इति सेत्स्यति।
यद् येनैवाविनाभूतं तत्तदाश्रित्य वर्तते॥४७॥

तस्माद्वेषस्तथैवाङ्गाभिनयोऽप्येष नाटके।
प्रावेशिकोक्त्या संसिद्धो भवतीत्यवगम्यताम्॥४८॥

कर्मत्वेन च संसिद्धे रङ्गे प्रविशताविह।
गीतवाद्यादिकं सिध्येत्, नाट्यता च यथागमम्॥४९॥

(पूर्वपक्षी अब अन्य तर्क दे सकता है) – यदि ऐसा मानेंगे तो यहाँ गायन, वादन, वेशभूषा आदि का ग्रहण (ही) अनुचित हो जाएगा। क्योंकि नाटक में गीत आदि जोड़े जाएं यह भी (शास्त्र में) कहा नहीं गया है।

(उत्तरपक्ष – इसके समाधान में) कहा जा रहा है –

यहाँ नाटक के प्रयोग में प्रावेशिक या प्रवेश के कहने से ही वेश (आहार्य अभिनय) तथा आंगिक (अभिनय) सहित राम आदि (पात्रों) की अनुकृति स्पष्ट कर दी जाती है॥४३॥

अन्यथा प्रवेश करने की क्रिया का कर्म रंगमंच के बिना ही होने लगेगा, और (राम प्रवेश करते हैं – इस प्रकार के रंग संकेतों में) वर्तमान काल के प्रयोग का क्या अर्थ है – यह समझना कठिन हो जाएगा॥४४॥

राम प्रवेश करते हैं – इस (रंगसंकेत) में साक्षात् राम नहीं कहे जा रहे, अपितु राम का अनुकरण करने वाला नट ताद्रूप्य के उपचार (अनुसन्धान) के कारण राम कहा जा रहा है॥४५॥

अनुकृति में वेशभूषा स्वतः ही अवलम्बन बन जाती है, आंगिक अभिनय सुख–दुःख आदि अवस्थाओं से कार्यभूत हो जाते हैं॥४६॥

तब वेश आदि के बिना प्रवेश भी सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि जो जिससे अविनाभूत (अनिवार्यतः जुड़ा हुआ है) वह उसके आश्रित होकर निष्पन्न होता है॥४७॥

इसलिए नाटक में जिस तरह वेश उसी तरह आंगिक अभिनय भी प्रवेश करने की नाट्योक्ति (रंगसंकेत) से सिद्ध हो जाता है – यह समझ लेना चाहिए॥४८॥

(रंगमंच पर) प्रवेश करने वाले नटों की (प्रवेश क्रिया के) कर्म के रूप में रंगमंच सिद्ध है, तो इसके साथ गीत और वाद्य भी सिद्ध होगा तथा शास्त्रानुसार नाट्यरूपता भी। फिर कथाविशेष तो सीधे-सीधे कहा गया है॥४९॥

१५. उक्तसिद्धस्य परिग्रहो युक्त इति सिद्धान्तप्रतिपादनम्
(जो उक्त है, उससे स्वयंसिद्ध होनी वाली बातों का ग्रहण उचित है – इस सिद्धान्त का प्रतिपादन)

कथाविशेषः पुनः साक्षाद् उक्तः। यथा प्रवृत्तिनिमित्तभेदा हि स्त्रीपुरुषाभेदाश्च पात्रापरपर्यायाः। तेषां क्रमेण प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रदेशश्च प्रवेशनिष्क्रमाभ्याम्। भाषा च पाठ्यरूपा। गमनादिक्रिया च परिक्रम्येत्यादिना। तस्मात् नाटके उक्तस्य उक्तसिद्धस्य च वा परिग्रहो नाट्ये युक्तः, न इतरस्य।

फिर कथाविशेष तो सीधे-सीधे कहा गया है। जिस तरह प्रवृत्तिनिमित्त के भेद तथा पात्र कहे जाने वाले स्त्री–पुरुषों के भेद होते हैं, उनके क्रम से प्रवृत्ति निमित्त प्रदेश प्रवेश और निष्क्रमण द्वारा बताया जाता है। भाषा पाठ्यरूपा होती है, गमन आदि की क्रिया परिक्रमा करके, इत्यादि (रंग संकेतों) द्वारा बताई जाती है। अतः नाटक में शास्त्रोक्त का ग्रहण होगा या शास्त्रोक्त से सिद्ध का ग्रहण होगा, और किसी का नहीं।

१६. अत्र पूर्वपक्षस्य शङ्का, तन्निराकरणं च
(पुनः पूर्वपक्ष की शंका और उसका निराकरण)

ननु अनुकार्याणां व्यापारो नाटकैः न सिद्ध्यति। न खलु "अहो राक्षसनगरस्य परा लक्ष्मीः"[२७] इति पाठ्यकथने नासिकाग्रे अङ्गुलीनिवेशनं नाटके कथितम्।

मैवम्। "अहो" इति नाटके कथितेनैव विस्मये सिद्धे तद्वक्तुः विस्मयवशायाताङ्गुली निवेशनादिकमपि[२८] कथितमिव स्यात्, वाचिकपरिग्रहे आङ्गिकादेरपि कविना परिगृहीतत्वात्। न खलु आङ्गिकादिना विना वाचिकं नाट्यप्रयोगे जन्म लभते। आङ्गिकादिकं नाट्यशास्त्रे एव उच्यते, न नाटके। तत्र तु सिद्धौ रसभावौ निश्चित्य तदनुसारेण आङ्गिकादिकम् अन्यत्र उक्तम् अङ्गीक्रियते। यत्पुनर्वाचिकेन न सिद्ध्यति गमनादिकं, तत् "परिक्रम्य", "वीणया गायति" इत्यादिनाटकपदैरेव सिद्ध्यति। यत्तु "स्वर्गस्त्री यदि तत्कृतार्थमभवच्चक्षुस्सहस्रं हरेः" इत्यादि वाचिकेनैव स्पृहाविस्मयादिसिद्धौ "सस्पृहम् अवलोकयन्" "सविस्मयम्" इत्यादिकं नाटकीयं तद् विस्पष्टतार्थम् अवगन्तव्यम्।

यदि प्रश्न किया जाए कि अनुकार्य (राम आदि मूल पात्र) का कार्य व्यापार नाटकों से सिद्ध नहीं होता। "अहो राक्षसनगरस्य परा लक्ष्मीः (कैसी अद्भुत सम्पदा है लंका की)" इस पाठ्य कथन में नाक के अग्र भाग पर अंगुली रखने का निर्देश नाटक में नहीं बताया गया।

(उत्तर में कहते हैं –) ऐसी बात नहीं। अहो ... इस कथन के उच्चारण करते ही विस्मय बताया जा रहा है – यह बात सिद्ध हो जाती है। उससे वक्ता का विस्मयवश नाक पर अंगुली रखना भी कह दिया जाता है, ठीक उसी तरह जिस तरह वाचिक का कवि ग्रहण करता है, तो आंगिक का ग्रहण उसके साथ अपने आप हो जाता है। बिना आंगिक के तो नाट्यप्रयोग में वाचिक जन्म ही नहीं ले सकता। और आंगिक का निर्देश *नाट्यशास्त्र* में ही है, नाटकों में नहीं। वहाँ (नाटकों में) तो इस भाव की सिद्धि का निश्चय करके उसके अनुसार आंगिक जो अन्यत्र (*नाट्यशास्त्र* में) बताया गया है, वह स्वीकार कर लिया जाता है। जितना गमन आदि (आंगिक व्यापार) वाचिक (पाठ्य) से सिद्ध नहीं होता, उतना ही "परिक्रमा करके, वीणा के साथ गीत गाता है" इत्यादि नाटकपदों (रंग संकेतों) से सिद्ध होता है। और जो "स्वर्गस्त्री यदि तत्कृतार्थमभवच्चक्षुस्सहस्रं हरेः (यदि वह अप्सरा है तो इन्द्र के हजार नयन कृतार्थ हो गए)" इत्यादि वाचिक या पाठ्य से ही स्पृहा, विस्मय आदि की सिद्धि होने के कारण "सस्पृहम् अवलोकयन्" (सस्पृह देखता हुआ) सविस्मयम् इत्यादि नाटकीय (व्यापार) स्पष्ट रूप में समझ लेना चाहिए।

१७. अनुक्तपरिग्रहे पुनः पूर्वपक्षोत्थापिता शङ्का तत्खण्डनं च
(अनुक्तपरिग्रह पर पूर्वपक्ष की ओर से पुनः उठने वाली शंका तथा उसका समाधान)

ननु भरते अनुक्तमपि नाट्यप्रयोगे परिग्राह्यम्। यथा विस्मयाभिनये नासिकाग्रे अङ्गुली-निवेशनम्। न खलु तन्मुनिनोक्तम्, अङ्गुलीभ्रमणमेव उक्तम्।

---

[२७] *आश्चर्यचूड़ामणि* में ६.१ के पश्चात् हनुमान् का स्वगत कथन। मूल नाटक में वाक्य "अहो नु खलु राक्षसनगरस्य परा लक्ष्मीः" है।

[२८] निवेशनादिकम् अपि – P

उच्यते – आदिशब्देन तत्सिद्धिः। अङ्गुलीभ्रमणप्रलयादिभिरिति हि गदितम्। न चैतदत्र विरुद्धम्[२९], आदिशब्देन च उक्तमुक्तमेव।

ननु भवतु वार्तिककारवद् अनुग्राहितृत्वं प्रयोक्तुः।

मैवम्, प्रयोक्तृताविच्युतिप्रसङ्गात्। स्थितपरिग्राही प्रयोक्ता इत्युक्तं प्राक्। न च नाटके न्यूनमधिकं वा प्रदर्शयितुं शक्यते येन वार्तिककारायेत प्रयोक्ता। पाणिनिना पुनः आत्मनेपदविधौ "उपसर्गादस्यत्यूहयोर्वा वचनम्" इत्यादिकं न उक्तम्। अतः युक्तं तत्र, कात्यायनेन "उपसर्गादस्यत्यूहर्योर्वा वचनम्" इत्यादि वक्तुम्।

किञ्च यदेव मूलकारस्य प्रमाणं तदेव वार्तिककारस्यापि न्यूनाधिकदर्शने प्रमाणं भवति। यथा हि "संगच्छते" इत्यादि लक्ष्यमवलम्ब्य पाणिनिना "समो गम्यृच्छी[३०]त्यादि सूत्रं प्रणीतम्"। तथा समस्यते, समूहते इत्यादि लक्ष्यमेव अवलम्ब्य वार्तिककारेण "उपसर्गादि"त्यादिकं कृतम्। न च एवम् अत्र वक्तुं शक्यते। नाटककर्तृणां मुनिवचनं मूलम्। प्रयोक्तुः अस्मिन् क्रियापरिग्रहे न किंचिदपि मुनिवचनं मूलतया वक्तुं लभ्यते, अभावात्।

(पूर्वपक्षी पुनः प्रश्न करता है –) भरतमुनि के शास्त्र में जो नहीं कहा गया, वह भी नाट्यप्रयोग में स्वीकार्य हो जाता है। जैसे – विस्मय के अभिनय में नासिका के अग्र भाग में अंगुली रखना। मुनि (भरत) ने तो यह कहा नहीं है, उन्होंने अंगुली को घुमाने भर का निर्देश दिया है।

इसके उत्तर में कहते हैं – (भरतमुनि के उक्त कथन में) "आदि" जुड़ा होने से (अंगुली भ्रमण के साथ) उसकी (नासिकाग्र पर अंगुली रखने की भी) सिद्धि हो जाती है। (नाट्यशास्त्र में) "अंगुलीभ्रमणप्रलयादिभिः" यह कहा है। अतः यहाँ विरोध नहीं है आदि कहने से जो कहना है (नासिकाग्र पर अंगुली रखना) वह कह दिया गया।

(तब पूर्वपक्षी फिर अपने मत के समर्थन में कहता है) – तो फिर वार्तिककार के समान प्रयोक्ता या नाट्यप्रयोग करने वाले के लिए कृपा कर दी जाए।

(उत्तर) यह भी कहना उचित नहीं है, इससे प्रयोग का औचित्य नष्ट हो जाएगा। पहले ही कहा गया है कि जो शास्त्र में स्थित या सिद्धान्तित है, उसका ग्रहण जो करे वह प्रयोक्ता है। नाटक में शास्त्र में निर्धारित के अतिरिक्त कम या अधिक प्रयोग करने की छूट ही नहीं है जो प्रयुक्ता वार्तिककार बन बैठे। (पाणिनि-व्याकरण की स्थिति भिन्न है, उस पर वार्तिक आवश्यक है, क्योंकि) पाणिनि ने "आत्मनेपद" के विधान में "उपसर्गादस्यत्यूहयोर्वा वचनम्" इत्यादि नहीं कहा। अतः वहाँ वार्तिककार कात्यायन ने "उपसर्गादस्यत्यूहयोर्वा वचनम्" यह वार्तिक जोड़ा – वह ठीक है। और फिर मूल ग्रन्थकार (पाणिनि) के लिए जो प्रमाण है, वहीं वार्तिककार (कात्यायन) के लिए भी कमी या अधिकता की समझ के लिए प्रमाण है। उदाहरणार्थ "सङ्गच्छते" इत्यादि को लक्ष्य करके पाणिनि ने "समो गम्यृच्छी" इत्यादि सूत्र रचा। उसी तरह, "समस्यते", "समूहते" इत्यादि क्रियापदों को लक्षित कर वार्तिककार ने "उपसर्गात्" इत्यादि वार्तिक

---

[२९] अङ्गुलीभ्रमणप्रलयादिभिः इति हि गदितम्। न च एतदत्र – P

[३०] समो गम्यृच्छिप्रच्छिस्वरत्यर्तिश्रुविदिभ्यः – *अष्टाध्यायी* १.३.२९

बनाया। नाटक में नृत्यक्रिया जोड़ने के प्रसंग में यह बात लागू नहीं होती। नाटक खेलने वालों के लिए (भरत) मुनि का वचन मूल है। प्रयोक्ता नट द्वारा इस नृत्यक्रिया को स्वीकार करने में मुनि का कोई भी वचन मूल रूप में उपलब्ध नहीं होता, क्योंकि (उनका) ऐसा कोई वचन है ही नहीं।

१८. क्रियाया सन्निवेशे युक्तेरावश्यकत्वम्
(क्रिया को नाट्यप्रयोग में जोड़ने के विषय में युक्ति आवश्यक)

अस्तु वा वचनं क्वापि तच्चाधिगतमुच्यताम्।
तथाप्ययं क्रियावादी सङ्कटान्न विमुच्यते॥ ५०॥

उपपत्तौ सत्यां हि प्रमाणापेक्षा।

अस्याः क्रियायाः पाठ्यान्तरादाने युक्तिरस्ति चेत्।
प्रमाणवचनं युक्तं नास्ति चेन्न तदिष्यते॥५१॥

युक्तिरस्याः समारब्धकथाच्छेदाप्तजन्मनः।
रसमारणकाठिन्यनिर्वासनविधायिनी॥५२॥

ततश्च किंचिदादाय पाठ्यमध्ये क्रियास्त्वति।
क्वाप्यस्तु वचनं तन्न कथञ्चिद् युक्तिवल्लभम्॥५३॥

युक्त्या विरहितं वाक्यं न किञ्चिदपि शोभते।
अग्निना सिञ्चतीत्येतत् कथं भवति चिन्त्यताम्॥५४॥

उपपत्तेर्न वचनं कारकं किंतु बोधकम्।
व्यनक्ति हि प्रदीपोऽयं कुलालः कुरुते घटम्॥५५॥

अन्यथा पुनरेवं स्याद् इत्युक्ते केनचित् क्वचित्।
अङ्गुल्यग्रादिवाक्यस्याप्यस्य प्रामाण्यमापतेत्।५६॥

अथवा मान लिया कि कहीं मुनि का नृत्यक्रिया के पक्ष में वचन है, वह आप कह रहे हैं कि आपको (शास्त्र में) कहीं मिला भी है तो भी यह क्रियावादी (चाक्यार) संकट से छुटकारा नहीं पा सकता॥५०॥

क्योंकि युक्ति हो, तभी उसके प्रमाण की अपेक्षा होती है।

इस नृत्यक्रिया के लिए अन्य पाठ को स्वीकार करने के पीछे कोई युक्ति है, तब तो प्रमाण का वचन उचित है, यदि (युक्ति) नहीं है, तो (प्रमाण के) वचन की आवश्यकता नहीं॥५१॥

इस क्रिया के समर्थन में जो भी युक्ति (आप देंगे वह) आरम्भ कर दी गई। कथा के बीच में टूटने से उत्पन्न रस की हत्या की कठिनता व उस (रस) का निर्वासन करने वाली होगी॥५२॥

कहीं से कुछ भी लेकर पाठ के बीच में कहीं भी क्रिया हो – यह कथन ही युक्तिसंगत नहीं है॥५३॥

युक्ति से रहित वाक्य किञ्चित् भी शोभित नहीं होता। "आग से सींचता है" – यह वाक्य क्या युक्तिसंगत होगा? सोचिए॥५४॥

वचन उपपत्ति या युक्ति का कारक होता है बोधक नहीं, जैसे दीपक (अन्धकार में रखी वस्तु को) व्यक्त करता है, कुम्हार घड़ा बनाता है (ये वचन युक्ति के उत्पादक नहीं, बोधक हैं)॥५५॥

नहीं तो ऐसा तो होता ही है – यह कोई कहे तो अंगुली के अग्रभाग से सम्बद्ध वाक्य (वह अपनी अंगुली की नोंक पर एक हज़ार हाथियों को टिकाए रखता है) की भी प्रामाणिकता माननी पड़ेगी॥५६॥

तृतीयः अङ्कुशः (तृतीय अंकुश)

क्रियानृत्यनिरूपणोपसंहारः
(क्रियानृत्यनिरूपण का उपसंहार)

१. क्रियाया परिग्रहे सहृदयानां स्वीकृतिरस्ति वा न वा?
(क्रिया नाट्य में सम्मिलित करने पर क्या सहृदयों की सम्मति है?)

स्यान्मतम्, सत्परिग्रहोऽत्र प्रमाणम्। नाट्यरसिकाः सन्त इमां क्रियामाद्रियन्त इति। मैवम्।[१]

परिग्रहेणैव सताम् असतां वात्र कुत्रचित्।
सर्वतः साधुभावोऽयं वस्तुनो नावधार्यते॥५७॥

प्रकृत्या सुन्दरं वस्तु सदोषमपि गृह्यते।
कलङ्कोऽस्तीति पूर्णेन्दुमुदितं[२] को न पश्यति॥५८॥

हम मान भी लेते कि क्रियानृत्य कूडियाट्टम् में अनिवार्य है, यदि सज्जन इसे स्वीकार करते। इस पर पूर्वपक्षी (क्रियानृत्य समर्थक चाक्यार) कहता है – नाट्य-रसिक सज्जन इस क्रिया को आदर देते हैं। (इसके खण्डन में ग्रन्थकार कहता है) – ऐसी बात नहीं है। सज्जनों या असज्जनों के स्वीकार मात्र से भी किसी वस्तु की साधुता या असाधुता निश्चित नहीं की जा सकती।

यदि कोई वस्तु सहज सुन्दर है, तो दोषयुक्त होने पर भी उसका ग्रहण किया जाता है। चन्द्रमा में कलंक है तब भी उगते चन्द्रमा को कौन नहीं देखना चाहेगा॥58॥

२. आप्तवचनप्रामाण्यम्
(क्रिया के नाट्य में सम्मिलित करने के विषय में आप्तवचन प्रमाण है)

नाट्यस्य क्रिया कलङ्क इति न केनापि उक्तम् इति चेद् अत्र आप्तवचनमेव उत्तरयामः।

गुणदोषौ बुधौ गृह्णन्, इन्दुक्ष्वेडाविवेश्वरः।
शिरसा श्लाघते पूर्वं, परं कण्ठे नियच्छति॥

इति। तर्हि अबुधेन किमिति नोक्तम् इति चेद् उच्यते –

चूतस्य दोषवद्दोषं रत्नस्य सकलो जनः।
ज्ञातुं न क्षमते तं तु जानीते रत्नतत्त्ववित्॥५९॥

तर्हि किं त्वया उच्यते इति चेत्।

---

[१] नाट्यरसिकाः सन्तः इमां क्रियाम् आद्रियन्त इति मैवम्। – P

[२] पूर्णेन्दुम्, उदितं – P

पाठ्ये स्खलन्तं पुरुषम्, उत्तमो धीरमीक्षते।
हसन्त्यन्ये सुहृन्नैवम् इति शिक्षयते स्वयम्॥६०॥

अहमपि वः सुहृत्वात् किमिदम् इति वदामि।

नाट्य में नृत्यक्रिया कलंक है – यह तो किसी ने कहा भी नहीं है। पूर्वपक्षी के इस कथन का उत्तर आप्तवचन द्वारा ही दिया जा रहा है।

विद्वान् व्यक्ति गुण और दोष दोनों को उसी प्रकार ग्रहण करता है जैसे शंकर ने चन्द्रमा और विष को ग्रहण किया। पहले को तो वह मस्तक पर धारण कर प्रशंसा करता है और दूसरे को कण्ठ में ही रोक लेता है।

इस पर फिर पूर्वपक्षी पूछता है कि यह तो विद्वान् के लिए कहा गया है, अविद्वान् के लिए क्यों नहीं कहा? दूसरे उत्तर में कहते हैं –

जिस तरह आम्रफल के दोष को सब नहीं जान पाते उसी तरह रत्न के दोष को रत्न का पारखी ही जान पाता है॥59॥

तब यदि यह पूछो कि तुम्हारा इस क्रियानृत्य पर क्या कहना है? तो हमारा कहना यह है –

पाठ में चूक करते पुरुष (अभिनेता) को उत्तम व्यक्ति धैर्य के साथ मौन रहकर देखता है अन्य लोग उस पर हँसते हैं। मित्र हँसी नहीं उड़ाता, यही बात अपने आप गुण–दोष सिखा देती है॥60॥

मैं भी तुम लोगों के प्रति मित्रता के कारण कुछ कहा रहा हूँ।

३. संवादे तदुत्तरभाविन्यां क्रियायां सम्बन्ध आवश्यकः
(संवाद और उसके पश्चात् की जाने वाली क्रिया में सम्बन्ध आवश्यक)

किञ्च "सम्प्रति हि"[३] इत्युक्त्वा खलु इयं क्रिया आरभ्यते। तत्र अनयोः कः सम्बन्ध इति चिन्तनीयम्। साकाङ्क्षं पदम् एकम् अनेकं वा समन्तरभवया हस्तादिचेष्टया पदान्तरेण वा अन्वित्य एकार्थप्रतिपादकं भवति। यथा "आत्रेय" इत्युक्त्वा हस्ताङ्गुलिचलनविशेषे "अत्र आगच्छ" इत्यर्थः संपद्यते। एवमिहापि संबन्धे सम्प्रति हस्तापादादि विक्षेपः इति किमिदं स्यात्। सम्प्रति हस्तादिसङ्कोच इति चेत् का क्षतिः। इह प्रावेशिकवस्तुनः द्वयमपि समानं स्यात्।

अहं मैनाकमुल्लङ्घ्य महता वेगेन लङ्कां प्राप्तोऽस्मि इत्यभिनीय सम्प्रति हि इत्युच्यते। तत्रैव तावत् कीदृशी सङ्गतिः। अलं वा अतिप्रसक्त्या। सर्वथा एतत् पदम् अन्येन केनचित् सम्बद्ध्येत। तच्च लङ्कां प्राप्तोऽस्मीत्यनेन चेत् तद्वचनानन्तरम् इदं क्रियानटनं संगतं स्यात्।

सम्प्रति हि ग्रन्थस्य च, पश्यैतस्याः क्रियायाश्च।
हारयति वक्षसोरिव, नान्योन्यं युज्यते घटना॥६१॥

अपि च एतदन्तरं कथम् इयमवस्था अभूद् इति नटनवैभवेन काचित् शङ्का विरच्यते, तत्रापि न सङ्गतिः पदं विदधाति।

---

[३] षष्ठ अंक में हनुमान् द्वारा प्रवेश करते ही "सम्प्रति हि" कहकर "मैनाकं नागकन्या" इत्यादि श्लोक बोले जाते हैं।

और भी – "सम्प्रति हि" (अभी तो) – यह कहकर इस क्रिया का आरम्भ किया जाता है। इन दोनों ("सम्प्रति हि" कहने और क्रिया को आरम्भ करने) में क्या सम्बन्ध है – यह सोचना चाहिए। जब एक या अनेक साकांक्ष पद हों, तो उनके उच्चारण के तुरन्त बाद की जाने वाली हाथ आदि अंगों की चेष्टा से या अन्य पदों के उच्चारण से ये पद अन्वित होकर, एकार्थ के प्रतिपादक होते हैं। उदाहरण के लिए आत्रेय – यह कहकर हाथों की अंगुलियों के विशेष संचालन से "यहाँ आओ" यह अर्थ निकल आता है। उसी तरह यहाँ भी सम्बन्ध है, तो हाथों एवं पैरों के विक्षेप से होने वाली नृत्यक्रिया किसलिए है – इसका उत्तर मिलना चाहिए। इसके उत्तर में पूर्वपक्षी कहता है – सम्प्रति हि (अभी तो) से – अब हस्त आदि की संकोच रूप नृत्यक्रिया की जा रही है – यह अर्थ ले लेने में क्या हानि है? इसमें प्रावेशिक (प्रवेश के समय पात्रों या घटना का परिचय) और कथावस्तु दोनों समान रूप से लागू हो जाते हैं।

उत्तरपक्षी कहता है – मैं मैनाक को लाँघकर बहुत तीव्र गति से लंका में आ पहुँचा – इसका अभिनय करके "सम्प्रति हि" यह कहा जा रहा है। तो इसमें भला कैसी संगति? लगातार उसी बात को दोहराना तो रहने ही दो। "सम्प्रति हि" इन पदों का अन्य किन्हीं पदों से सम्बन्ध होना चाहिए। यदि मैं लंका आ पहुँचा – इन पदों से है तो इन्हें कहने के बाद क्रियानृत्य संगत होगा, "सम्प्रति हि" कहने के बाद नहीं।

"सम्प्रति हि" इस पाठ का और उसके पश्चात् की जाने वाली नृत्यक्रिया का हार और संन्यासी के वक्षःस्थल के समान एक-दूसरे से संयोग बैठता नहीं है। और भी इसके पश्चात् यह अवस्था कैसे हुई इस प्रकार की शंका नट के बुद्धि-वैभव से उठाई जाती है, उसमें भी संगति नहीं बैठती।

४. क्रियाया त्रिशङ्कुरिवानावश्यकत्वम्
(क्रिया त्रिशंकु के समान अनावश्यक है)

परमेश्वरनृत्तावसाना क्रियेयम्। शङ्कैतादृशी। को वाऽनयोः संबन्धः। न कार्यकारणभावो नाप्युपकार्योपकारकत्वम्। न चान्योऽपि कश्चित्।[४]

अगाहमाना संबन्धं पूर्वेण च परेण च।
इयं साध्वी क्रिया मध्ये त्रिशङ्कुरिव वर्तते॥ ६२॥

अकल्प्यमाना[५] कस्मैचिद् उपयोगाय कुत्रचित्।
अजागलस्तनच्छायमेषा[६] समधितिष्ठति॥ ६३॥

एवमन्यत्रापि क्रियाकथयोरन्योन्यसंबन्धोऽनुसन्धातव्यः।[७]

किञ्च –

---

[४] परमेश्वरनृत्तावसाना क्रिया इयम्। शङ्का एतादृशी। को वा अनयोः संबन्धः। न कार्यकारणभावः नापि उपकार्योपकारकत्वम्। न च अन्योऽपि कश्चित्। – P

[५] अकल्पमाना – P, अकल्प्यमाना – R

[६] अजागलस्तनच्छायम् एषा – P

[७] क्रियाकथयोः अन्योन्यसंबन्धः अनुसन्धातव्यः। – P

हनूमानिति कृत्वैवं प्रवेशे विहिते पुनः।
कथावियुक्तं किं युक्तं गात्रविक्षेपसाहसम्॥६४॥

तत्तन्नाम गृहीतानि पात्राणि परिपश्यताम्।
प्रेक्षकाणां कथां मुक्त्वा न क्वापि रमते मनः॥६५॥

कहा जाता है कि यह क्रिया परमेश्वर (शिव) के नृत्य का अवसान है। इसमें हमारी शंका इस तरह है कि इन दोनों में क्या सम्बन्ध है? न तो यहाँ कार्य–कारण भाव सम्बन्ध लागू हो रहा है, न उपकार्योपकारक भाव सम्बन्ध और न ही अन्य किसी प्रकार का सम्बन्ध।

पहले और बाद के कथनों से इस नृत्यक्रिया का कोई सम्बन्ध जुड़ नहीं पाता। यह बेचारी क्रिया इन दोनों के बीच त्रिशंकु की तरह लटकी हुई है॥62॥

यह किसी भी तरह के उपयोग में कहीं से भी नहीं आ पा रही। इसकी शोभा बकरी के गले में लटकते स्तन जैसी है॥63॥

इसी तरह क्रिया और कथा के परस्पर सम्बन्ध का अनुसन्धान किया जाना चाहिए, और भी –

हनुमान् के मैनाक पर्वत को लाँघकर लंका पहुँचने के कथन के साथ प्रवेश कर चुकने पर उस कथा से विच्छिन्न गात्रविक्षेप नृत्यक्रिया का साहस करना उचित नहीं॥64॥

उनके अपने नामों के उच्चारण के साथ उन पात्रों को देखते हुए दर्शकों का मन तो कथा को छोड़कर और किसी नृत्य प्रस्तुति में नहीं रमता॥65॥

५. पूर्ववृत्तान्ताभिनयोऽनपेक्षित इति सिद्धान्तपक्षस्थापना
(पिछले वृत्तान्तों का अभिनय अनपेक्षित है – इस सिद्धान्त पक्ष की स्थापना)

ननु सामाजिकानां कथावबोधे साध्ये पुराणाकर्णनमेवालं[८] भवति। मैवं वादीः। पूर्वमेवावबुद्धा कथा तर्हि किमत्र साध्यम् इति चेत् कथापुरुषस्य रामादेः समवस्थादर्शनम् इति[९] गृह्यताम्। समतीतरामाद्यवस्था कथमिदानीं दृश्या इति चेद् अनुकरणेन दृश्या भवति। तर्हि तदेवालं, किं गीतवादित्रप्रकारेण इति चेत्, मैवं, गीतादिरहितनाट्यानुपपत्तेः। यदुक्तं –

अनुभावविभावानां वर्णना काव्यमुच्यते।
तेषामेव प्रयोगस्तु नाट्यं गीतादिरञ्जितम्॥

इति। यत्पुनः वाचिकाभिनयगृहीतौ आतोद्यध्वानमन्दीकरणं तत् सभास्ताराणां सम्यक् तदाकर्णनार्थम्। अत एव आह

---

[८] पुराणाकर्णनमेव अलं – P

[९] पूर्वम् एव अवबुद्धा कथा तर्हि किमत्र साध्यम् इति चेत् कथापुरुषस्य रामादेः समवस्थादर्शनम् इति

यत्राभिनेयं गीतं स्यात् तत्र वाद्यं न योजयेत्।[१०] इति।
प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां प्रशस्तं मध्यमं भवेत्॥[११]

इस पर पूर्वपक्षी कहता है – सामाजिकों को कथा का बोध कराने के लिए तो पहले की कथा सुनना ही पर्याप्त होता है।

उत्तरपक्षी का कहना है – ऐसा मत कहो। यदि कथा पहले ही समझ ली, तो फिर इसमें साध्य क्या रहा? – (पूर्वपक्षी इसके उत्तर में कहता है) – यदि यह पूछो तो हम कहेंगे कि राम आदि कथापुरुष पात्रों की अवस्था का अवलोकन ही साध्य मान लो। यदि पूछो कि अतीत के राम आदि पात्रों की अवस्थाएँ आज के वर्तमान में प्रत्यक्ष कैसे हो सकती हैं, तो उत्तर है – अनुकरण से प्रत्यक्ष हो सकती हैं।

(इस पर उत्तरपक्षी फिर आक्षेप करता है) फिर तो अनुकरण ही पर्याप्त है गायन, वादन, आदि विधाओं की क्या आवश्यकता?

पूर्वपक्षी – गीत आदि से रहित तो नाट्य हो ही नहीं सकता। जैसा कहा है – अनुभावों और विभावों का वर्णन काव्य है। गीत आदि से रञ्जित उन्हीं का प्रयोग नाट्य है।

जब वाचिक अभिनय चल रहा हो, तो वाद्यों की ध्वनि मन्द कर दी जाती है। ऐसा इसलिए किया जाता है कि सभासद (प्रेक्षक) संवाद ठीक से सुन सकें। इसीलिए भरतमुनि ने कहा है जब गीत का अभिनय चल रहा हो, तो उस समय वाद्य का प्रयोग न करें। सभी प्रकार प्रेक्षागृहों में मध्यम सबसे प्रशस्त है। उसमें पाठ्य और गेय दोनों आसानी से सुना जा सकता है।

अयमत्र वस्तुसंक्षेपः –

रसे प्रतिष्ठितं नाट्यम् इति घण्टापथो महान्।
स कथायां स्थितस्तस्मान्नैव[१२] तत् स्याद्विनानया॥६६॥

कथा खलु विभावानुभावसंचारिरूपिणी।
स्थायिनं पुष्णती सभ्यान्[१३] करोत्यानन्दशालिनः॥६७॥

यहाँ अभी तक जो कहा, उसका संक्षेप इस प्रकार है –

नाट्य रस में प्रतिष्ठित है। यह विशाल राजमार्ग है। यह राजमार्ग कथा में अवस्थित है, इसलिए कथा के बिना नाट्य नहीं हो सकता॥६७॥

---

[१०] यत्राभिनेयं गीतं स्यात्तत्र वाद्यं न योजयेत्।। – *ना॰शा॰* ४.२७६

[११] सवेत् – P, भवेत् – R
प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां प्रशस्तं मध्यमं स्मृतम्।
तत्र पाठ्यं च गेयं च सुखश्राव्यतरं भवेत्॥ – *ना॰शा॰* २.११

[१२] स्थितस्तस्मात् नैव – P

[१३] पश्यान् – P, सभ्यान् – R

कथा विभावों, अनुभावों और संचारी भावों से बनती है। इन विभावादि द्वारा वह स्थायी भाव को पुष्ट करती हुई दर्शकों को आनन्द से सराबोर करती है।

६. क्रियेति संज्ञाविषये आक्षेपः
(क्रिया – इस संज्ञा के सम्बन्ध में आक्षेप)

किञ्च कोऽयमिह क्रियाशब्दस्य प्रसङ्गः। केन अस्य नृत्यविशेषस्य क्रिया इति संज्ञा कृता। न खलु मुनिना। स हि तदेतत् पाठ्यमध्ये क्रियमाणं वस्तुरहितं विचेष्टितं किञ्चिदपि नादरत्। अन्यथा नाट्यशास्त्रे यत्र कुत्रचिद् अभिधीयेत।

ननु मुनिना पूर्वरङ्गः अभिहितः। तत्र करणम् इत्यस्ति कश्चित् प्रयोगविशेषः। तत् करणं क्रिया इति कथ्यते इति।

तर्हि कृतिरित्यपि कथ्यतां, कार इति वा, सिद्धिर्लाभः धनम् इति वा, वृत्तिर्वर्तनं वर्त इति वा। हन्त अप्रसिद्धशब्देन नाट्यपदार्थाभिधानं विदुषामभिमतं न भवति। अत एवोक्तम् –

तस्यार्थस्तत्पदैस्तेन संक्षिप्य क्रियतेऽञ्जसा। इति।

पूर्वरङ्गावस्थितं करणं न पाठ्यान्तरे अवकाशं लभते इति पूर्वमुक्तम्।

न केवलमयं नृत्यविशेषो नाट्यमध्यगः।
अमुष्य वाचकश्शब्दः क्रियेत्येषोऽपि नूतनः॥६८॥

और भी – क्रिया शब्द का यहाँ प्रसंग ही क्या है? इस विशिष्ट नृत्य का नाम क्रिया किसने रख दिया? भरतमुनि ने तो नहीं रखा। उन्होंने तो पाठ्य के बीच में की जाने वाली वस्तुरहित इस ऊटपटाँग चेष्टा को कोई आदर ही नहीं दिया। नहीं तो, *नाट्यशास्त्र* में वे कहीं तो इसकी चर्चा करते।

नाट्यशास्त्र में मुनि ने पूर्वरंग बताया है। उसके पीछे कोई कारण है, इसलिए पूर्वरंग का विशिष्ट प्रयोग कहा गया है। यदि कहो कि हम करण और अंगहारों से निष्पन्न नृत्य को क्रिया कहते हैं, तो फिर इसी को कृति भी कह दो, कार कह दो, या सिद्धि को लाभ अथवा धन कह दो, वृत्ति को वर्तन या वर्त कह दो। अरे भाई, अप्रसिद्ध शब्द से नाट्य के किसी जाने-माने पारिभाषिक पद को कहना विद्वानों को अभिमत नहीं हो सकता।

इसीलिए कहा है –

उसके अर्थ को उसी के अनुरूप पदों से समुचित रूप से कहा जा रहा है। जो करण पूर्वरंग में किया जाता है, न केवल चाक्यार उसका नाट्य के बीच में प्रयोग करके अनुचित कार्य कर रहा है, वह उसके लिए क्रिया इस नए वाचक शब्द का प्रयोग भी अनुचित है॥६८॥

चतुर्थः अङ्कुशः (चतुर्थ अंकुश)

अङ्गुलीयाङ्के अनौचित्यपरम्परा
(अंगुलीय अंक में अनौचित्य की परम्परा)

१. क्रियायाः पौर्वापर्यविषयेमतिभ्रमः
(क्रिया के पौर्वापर्य के विषय में मतिभ्रम)

अपि च कथमियमवस्थाऽभूदिति[१] शङ्कायाम्, इयमवस्थेति[२] किं समनन्तरकृता क्रियाप्रयुक्तिः उद्दिश्यते उत ततः प्रागभिनीता लङ्काप्राप्तिः। नाद्यः उत्तराघटनात्। द्वितीये दीर्घकालेन क्रियाकोलाहलेन दूरविच्छिन्नलङ्का-प्राप्तिपरामर्शः। आः![३] तथा भवतु नूनम्। अथवा कथमियं लङ्काप्राप्तिः अभूद् इत्येव भवेद् आशङ्का। तथापि कस्येयं शङ्का इति वक्तव्यम्। नटस्य वा हनूमतस्तु न इदानीमेव शङ्कायाः निमित्तं पश्यामः।

कोऽहं कुतः किमर्थं वा, कथं वागतवानिति।
सर्वं किं विस्मृतमभूल्लङ्काप्राप्तौ हनूमतः॥ ६९॥

सिद्धान्तपक्षी फिर शंका उठाता है कि यह अवस्था कैसे हुई? पूर्वपक्षी का प्रश्न – कौन सी अवस्था? (सिद्धान्तपक्षी कहता है) अवस्था यह कि (हनुमान् के) लंका पहुँचने के बाद में यह नृत्यरूप क्रिया होगी या पहले? पहली बात संगत बैठती नहीं है क्योंकि लंका पहुँचकर उनका नृत्य में लग जाना उचित नहीं है। दूसरा पक्ष भी अनुचित है क्योंकि बहुत देर तक क्रिया (नृत्य) का कोलाहल करते रहेंगे तो लंका जो दूर है वहाँ कब पहुँचेंगे? यदि यह मान लिया जाए कि लंका प्राप्ति के पहले ही नृत्यक्रिया होगी तो हनुमान् ऐसी स्थिति में लंका पहुँचे कैसे यह शंका होगी। फिर भी कि यह शंका किसे हो रही है यह तो बताइए। क्या नट को हो रही है या हनुमान् को? नट को हो नहीं सकती, क्योंकि वह वर्णिकापरिग्रह (प्रसाधन) के कारण तिरोहित है (नट के रूप में प्रस्तुत ही नहीं है)। और हनुमान् को शंका हो इसका तो कोई कारण नहीं दिखता।

मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ, किसलिए आया हूँ – क्या लंका पहुँचकर हनुमान् यह सब भूल जाएंगे? ॥ ६९॥

ननु प्रेक्षकानुरोधेन इयं[४] शङ्का तेषां हि पूर्ववृत्तान्तजिज्ञासा अस्ति। मैवम्। तेषां शङ्कास्तीति[५]

---

[१] कथम् इयम् अवस्था अभूद् इति – P. R omits अभूद्

[२] इयम् अवस्था इति – P

[३] आः – P

[४] प्रेक्षकानुरोधेन इयं – P

[५] शङ्का अस्ति इति – P

कथमसौ जानीते। सा पुनः एवमेव इति वा। क्रियाविषये न किं तेषां शङ्का प्रकृतकथापरित्यागेन कोऽयमन्तरा केवलो गात्रविक्षेपः इति। जिज्ञासा च पूर्वत्र वा परत्र वा इति चिन्तनीयम्।

राक्षसेन्द्रपुरीं दृष्ट्वा स्फुरत्संरम्भसंभृतः।
दृष्टः प्लवगशार्दूलो जानकीजानिवल्लभः ॥७०॥

ततः

त्रिकूटशिखरे स्थित्वा, यथा लङ्का विलोकिता[६]।
तथा विलङ्घिताम्भोधेः प्रवेशोऽयं हनूमतः ॥७१॥

(पूर्वपक्षी की ओर से) यह कहा जाए कि प्रेक्षकों के अनुरोध से यह शंका उठाई जा रही है। (इसके उत्तर में सिद्धान्तपक्षी कहता है) ऐसी बात नहीं है। प्रेक्षक के मन में शंका हो जाएगी यह बात हनुमान् कैसे जानते हैं? या फिर शंका यों ही (अकारण) उठ खड़ी हुई है। (यदि प्रेक्षकों द्वारा शंका ही यहाँ की जानी है, तो) क्रिया के विषय में प्रेक्षकों को शंका होगी कि जो कथा चल रही है, उसे छोड़कर बीच में केवल गात्रविक्षेप (नृत्यक्रिया के रूप में अंगों का इधर से उधर चलाना) क्यों जोड़ दिया? यह शंका तो होगी ही। यह जिज्ञासा भी प्रेक्षकों में बनी रहेगी कि पहले क्या हुआ और आगे क्या होगा।

राक्षसेन्द्रपुरी लंका को देखकर फड़कती हड़बड़ी से भरे प्लवगशार्दूल (वानरों में सिंह – हनुमान्) ने लौटकर जानकीजानिवल्लभ राम को देखा ॥७०॥

उसके बाद –

त्रिकूट के शिखर पर खड़े होकर जिस तरह लंका देखी जा सकती है, उसी तरह सागर को पार कर चुके हनुमान् का यह प्रवेश है ॥७१॥

२. पूर्ववृत्तान्ताभिनये अनवस्थाप्रसङ्गः
(पूर्व वृत्तान्तों के अभिनय में अनवस्था का दोष)

एवं च लङ्काप्राप्तेः प्राचीना कथा निखिला अपि सिद्धा भवेत्। तथाकृत्वा कवेः विरचनाप्रकारः। कवेः सिद्धं कथम् अन्येषां सिद्धं भवेद् इत्यनुयोगे कथं रामजनकस्य तज्जनकस्य वा चरितसिद्धिः इति प्रत्यनुयोगप्रसंगः। तत्र कवेरभिमतम् अनुसरणीयम्[७]। न तावत् कविभिः नाटकादौ नायकानां चरितम् उत्पत्तेरेव प्रभृति विलयपर्यन्तमुपनिबद्ध्यते[८]। न च प्रारब्धभागाद् आरभ्य आसमापयिषितभागादखिलमुन्मील्यते[९]।

(उत्तरपक्षी पुनः समाधान करता है) – इस तरह हनुमान् के लंका में पहुँचने की सारी प्राचीन कथा भी सिद्ध हो जाएगी। ऐसा करने पर कवि का रचना-प्रकार भी सामने आ जाएगा। कवि का सिद्ध (पूर्वविदित)

---

[६] विलोक्यते – P

[७] कवेरभिमतम् अनुसरणीयम् – P

[८] चरितम् उत्पत्तेरेव प्रभृति विलयपर्यन्तम् उपनिबद्ध्यते

[९] भागाद् अखिलम् उन्मील्यते – P

औरों का सिद्ध कैसे होगा इस प्रश्न के उत्तर में राम के पिता या उनके पिता के भी पिता के चरित की सिद्धि कैसे होगी यह प्रश्न आ जुड़ेगा। इसलिए उचित यही है कि कवि को जो अभिमत है, उसी का अनुसरण किया जाए। कविजन नाटक आदि में नायकों के चरित को उनके जन्म से लगाकर मृत्यु तक सारा का सारा वृत्तान्त उपनिबद्ध नहीं करते। और न ही जिस कथांश से उन्होंने (नाटक को) आरम्भ किया है, उससे लगाकर जहाँ पर उन्हें नाटक समाप्त करना है, इनके बीच की ही सारी कथा उन्मीलित की जाती है।

किञ्चित् किञ्चिद् अन्तरान्तरा परित्यागात्, नापि प्रदर्श्यमानभागस्य इतिहासानुसारितया भूतार्थता एव, क्वचित् क्वचित् प्रतिसंस्कारविधानात्। तथाविधस्यापि न पुनरेकप्रकारता, क्वचित् संक्षेपाद्, इतरत्र विस्तरात्। तस्माद् यद्वस्तु यतो यथा वा निबद्धं तत् ततस्तथैव[१०] प्रयोक्तृभिः परिग्राह्यम्। नात्र किञ्चिदपि पौरोभाग्यम् आचरणीयम्। अन्यथा कविपरित्यक्तस्य कथाप्रदेशस्य स्वीकारे प्रकृतप्रकारस्य किञ्चिन्निमीलनं[११] स्यात्। किमिति प्रबन्धकृता स भागः परित्यक्तः। इह तद्[१२] विरुद्धमिति वा ऽनुपयोगी इति वा। इतरथा तदुपादानमपि कृतं स्यात्।

कुछ-कुछ बीच-बीच में छोड़कर इस तरह कथा के प्रस्तुतीकरण में जितना भाग दिखाया जाता है, उसमें भी इतिहास (*रामायण* या *महाभारत*) के भाग की वास्तविकता नहीं रहती। कहीं-कहीं कवि उसका प्रतिसंस्कार भी करते हैं। इस प्रतिसंस्कार की भी पद्धति अलग-अलग कई तरह की है। इसमें कहीं संक्षेप हो जाता है, कहीं विस्तार। इसलिए जो कथावस्तु जहाँ से और जिस तरह निबद्ध की गई उसे प्रयोग करने वाले नटों को उसी रूप में उसी तरह प्रस्तुत करना चाहिए। इसमें अपनी मूर्खता मिलाने की आवश्यकता नहीं। नहीं तो कवि ने जो कथाप्रदेश छोड़ दिया है, उसे प्रदर्शित करने लग जाओगे, तो जो उसने स्वीकार किया है, उसका प्रदर्शन धरा रह जाएगा। आखिर प्रबन्धकार (नाटककार या कवि) ने वह कथा भाग छोड़ा तो कोई कारण होगा। वह उसकी रचना के विरुद्ध हो सकता है इसलिए थोड़ा होगा या वह उसकी रचना के लिए अनुपयोगी होगा। यदि ऐसा न होता, तो वह इस कथा भाग को भी ले ही लेता।

३. चाक्यारैः प्रयुज्यमानस्य मूलनाटकस्य उपेक्षा
(चाक्यारों द्वारा प्रयुज्यमान मूल नाटक की उपेक्षा)

किं च अनुपयोगिखण्डं सिद्धवत्कृत्वा समुपेक्षितं, विरुद्धं पुनः असद्वत्कृत्वैव[१३]। तदा

सिद्धस्यावर्तनं तावत् न कथं पिष्टपेषणम्।
असतस्तु, समादाने व्योमपद्मोऽपि गृह्यताम्॥७२॥

यद्यपि रामादिचरितविधौ एकेन कविना समुज्झितमन्येन[१४] स्वीक्रियते, तेन निराकृतमितरेण[१५]

---

[१०] ततः तथा एव – P

[११] किञ्चित् निमीलनं – P

[१२] एतद् – P, तद् – R

[१३] असद्वत्कृत्वा एव – P

[१४] समुज्झितम् अन्येन – P

[१५] निराकृतम् इतरेण – P

चेति न व्यवस्था। तथापि अस्य कवेरिह[१६] एवंविधः सिद्धान्तः इति अङ्गीकृतप्रबन्धप्रस्थान-मनुसरणीयम्। अन्यथा तत्र तत्र एतादृशदुराशङ्काभिरुत्तम्भितोपपत्तिवैमुख्यसमुद्धुरतरलाघवत्वात् न किञ्चिदपि नाटकं परिग्राह्यमित्यापतेत्[१७]।

और – कथा का जो अंश अनुपयोगी है, उसे सिद्ध जैसा मानकर उसकी उपेक्षा कर दी, जो प्रयोग की दृष्टि से विरुद्ध है, असत् की तरह मानकर उसे भी छोड़ दिया। ऐसी स्थिति में सिद्ध को दोहराना पिष्टपेषण कैसे नहीं माना जाएगा? और असत् का ग्रहण करना भी यदि उचित मानते हो, तो मंच पर आकाशकुसुम भी दिखला दो॥७२॥

यद्यपि राम आदि के चरित को दिखाने की पद्धति में एक कवि ने जिसे छोड़ दिया, उसे दूसरा कवि स्वीकार कर लेता है, दूसरे ने जिसे निरस्त कर दिया, उसे कोई और अपना लेता है, इसलिए कथा का कितना अंश कौन कवि ले या छोड़े इसमें कोई व्यवस्था (नियम-निर्धारण) नहीं हो सकता। फिर भी इस कवि ने (अपनी रचना में) इसी तरह का सिद्धान्त स्वीकार किया है यह मानकर उसके प्रबन्ध के प्रस्थान का अनुसरण करना चाहिए। नहीं तो इसमें जहाँ-तहाँ इस तरह की दुराशंकाओं के उठते रहने से कोई संगति नहीं बैठ पाएगी और प्रयोग इस तरह हल्का हो जाएगा कि नाटक अग्राह्य बन जाएगा।

विशेषेण प्रयोतॄणां प्रबन्धगतिः आश्रयणीया। प्रबन्धानुसारी खलु प्रयोगः नाटकं प्रयुज्यते इति व्यवहारदर्शनात्।

त्यक्तं नैव निरीक्ष्यं समुपात्तं श्लाघनीयमतिवेलम्।
कविहृदयमेव नाट्येष्वनुसरणीयं प्रयोगभृताम्॥७३॥

त्यक्तग्रहणं स्वीकृतहानं संक्षिप्तविस्तरोऽन्यत्वम्।
प्रथितस्य चेति दोषाश्चत्वारो नाटकप्रयोगेषु॥७४॥

विशेषरूप से प्रयोक्ताओं को तो प्रबन्ध (मूल नाटक) की स्थिति का ही आश्रय लेना चाहिए। प्रबन्धानुसारी प्रयोग करके ही नाटक खेला जाता है, यह व्यवहार चला आ रहा है। जो छोड़ दिया गया है, उसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए, जिसका ग्रहण किया गया है, उसकी प्रशंसा करनी चाहिए, नाट्यप्रयोग में प्रयोग करने वालों को कवि के हृदय का अनुसरण करना चाहिए॥73॥

जिसे कवि ने छोड़ दिया, उसे दिखाना, जिसे कवि ने स्वीकार किया उसे छोड़ देना, जिसे कवि ने संक्षिप्त किया, उसका विस्तार करना और जिस प्रसिद्ध वृत्तान्त का कवि ने विस्तार किया उसे संक्षिप्त करना – नाटक के प्रयोग में ये चार दोष होते हैं॥७४॥

४. चाक्यारैः सिद्धस्य ग्रहणम् असिद्धस्योपेक्षा
(चाक्यारों द्वारा सिद्ध का ग्रहण तथा असिद्ध की उपेक्षा)

एवं च इह कविना सिद्धवत् कृत्वा समुपेक्षितम् सुग्रीवसङ्गमादि हनूमत्समुद्रसन्तरणपर्यन्तं

---

[१६] कवे इह – P

[१७] परिग्राह्यम् इत्यापतेत् – P

तदुपादाय विस्तारयितुमयमुपक्रमः[१४] सुतरां न युक्तः। लङ्कावलोकनरभसविशेषितहरिविशेषसमुन्मेषदर्शने प्रेक्षकाणां न किञ्चिदपि पूर्ववृत्तान्ते मनो वलते। किं तर्हि उपरिवृत्तान्ते एव। तस्मात्

अवबुद्धेरनपेक्षातः प्रवृत्ते किन्नु शङ्कया।
अपेक्षितोर्ध्ववृत्तेस्मिन् प्रवृत्तेः किं नु शङ्कया ॥७५॥

इसलिए कवि ने सिद्ध (विदित) मानकर सुग्रीव से समागम लगाकर हनुमान् द्वारा समुद्र को पार कर लेने के जिस कथांश की उपेक्षा कर दी, उसे लेकर विस्तार देने का (चाक्यारों का) यह उपक्रम उचित नहीं है। लंका को देखते समय की हड़बड़ी से भरे हनुमान् के समुन्मेष को देखने के प्रसंग में प्रेक्षकों का मन पहले के वृत्तान्त में किसी तरह भी नहीं लगेगा। फिर किसमें लगेगा? उसके आगे के वृत्तान्त में। इसलिए –

जो जाना हुआ है, उसे देखने की अपेक्षा न होने से इसमें प्रवृत्त होने को लेकर (उसे दिखाएं या न दिखाएं ऐसी) शंका क्या करना? आगे के जिस वृत्तान्त को देखने की अपेक्षा है, उसे दिखाने में प्रवृत्त हुआ जाए या न हुआ जाए ऐसी शंका भी क्या करना? ॥७५॥

५. पूर्वसम्बन्धसमीक्षणम्
(पूर्वसम्बन्ध की समीक्षा)

प्राचीनकथापेक्षायां वा तदवबोधनार्थं हनूमानुद्युङ्क्त इति किम्? एतत्परिहारप्रक्रमोऽपि नूतनप्रकारः। लङ्काप्राप्तेः पूर्वं समुद्रलङ्घनं, ततः पूर्वं तदुत्तरतीरप्राप्तिः, ततः पूर्वं माल्यवतः समागमनं, ततः पूर्व बालिवधः, ततः पूर्वं सीतावियोगः ततः पूर्वमभिषकविच्छेदेन वनप्राप्तिः इति मध्ये मध्ये पृच्छामधिष्ठाय व्युत्क्रमेण रामोत्पत्तिपर्यन्तमभिनीयते। किमत्र निमित्तम्।

क्या पुरानी कथा की अपेक्षा से उसे समझाने के लिए हनुमान् के पात्र को उद्यम करना होता है? – सारा अभिनय करना पड़ेगा? इस कथा के परिहार का क्रम भी आपके प्रयोग में नए तरह का ही है। लंका पहुँचने से पहले सागर को लाँघना, उसके पहले सागर के दूसरे तट पर पहुँचना, उसके पहले माल्यवान् से भेंट, उसके पहले बालि का वध, उसके पहले सीता से वियोग, उसके पहले अभिषेक रोक दिया जाना और (राम का) वन में आना इस तरह इसके पहले क्या हुआ था – इसके भी पहले क्या हुआ – इस तरह के प्रश्न उठाकर उल्टे क्रम से राम के जन्म तक के प्रसंग का अभिनय चाक्यार नट करने लगता है। इसमें कारण क्या है?

टिप्पणी – इस प्रकरण में चाक्यारों की पूर्वसम्बन्ध नामक तकनीक की आलोचना है। पूर्वसम्बन्ध में आजकल की फ्लैशबैक की पद्धति से पिछले वृत्तान्तों को उल्टे क्रम से दिखाया जाता है।

न खलु ततः पूर्वं किं, ततः पूर्वं किम् इति मध्ये मध्ये कश्चित् पृच्छति। कथासम्बन्धार्थमेवमेवमिति[१५] चेत् किमुच्यते सम्बन्धसौष्ठवं, यत्र स्वयमसङ्गतेनैव शङ्काग्रहेण सङ्गतिः अभिलष्यते। न च एवं रामायणमहाभारतादिषु क्वचिदपि कथानिवेदनं दृष्टम्। अत्र एवम् इति चेत् किमिति "यानि यानि

[१४] अयम् उपक्रमः – P

[१५] कथासम्बन्धार्थम् एवमेवं इति – P

मनोज्ञानि"[२०] इत्यादौ व्युत्क्रमः परित्यज्यते। तत्रापि सत्यमेतदिति वचनान्तरममरलोकादुत्तमवस्तूनि[२१] रावणेन लङ्कामानीतानीति प्रसज्य, ततः प्राक् पराजितो देवराजः तत्पूर्वं युद्धं समजनि, तदादौ रावणः स्वर्ग गतः, ततः पूर्वं लङ्कायाः निष्क्रान्तः, तस्मात् प्राक् नारदवचनम् आकर्णितम्, इति, नाटयितुं शक्यमेव।

कोई प्रेक्षक तो इसके पहले क्या हुआ था, उसके पहले क्या हुआ था इस तरह बीच-बीच में प्रश्न करता नहीं है। कथा का सम्बन्ध बताने के लिए ऐसा करना पड़ता है – यदि आप यह कहें, तो इस तरह सम्बन्ध बताने में तो कोई सौष्ठव (सुसम्बद्धता और सौन्दर्य) नहीं है, जिसमें असंगत शंका को सही मानकर संगति की कामना की जाए। इस तरह का कथानिरूपण तो *रामायण*, *महाभारत* आदि में भी कहीं नहीं देखा। यदि कहो कि (वहाँ नहीं देखा), परन्तु यहाँ तो ऐसा ही क्रम होता है, तब फिर "यानि यानि मनोज्ञानि"[२२] इस श्लोक में जो व्युत्क्रम (मूल नाटक में ही) कर दिया गया है, उसे क्यों छोड़ रहे हो? यहाँ भी "सत्यमेतत्" (यह सत्य है) इस संवाद के बाद स्वर्ग से रावण ये अच्छी-अच्छी वस्तुएँ लेकर आया है – इस तरह का प्रसंग उठाकर उसके पहले देवराज इन्द्र रावण द्वारा पराजित किया गया, उसके पहले युद्ध हुआ, उसके भी पहले रावण (चढ़ाई करने) स्वर्ग पहुँचा, उसके पहले वह लंका से निकला, उसके पहले नारद के वचन उसने सुने – इस सबका नाट्य भी किया ही जा सकता है।

क्रियावसाने एवम् इति चेद्, "एषां पल्लवादौ" किं क्रिया न विद्यते। तत्र न पूर्वकथापेक्षा इति विशङ्क्य परिहारनीत्या पूर्वम् प्रकाण्डः, ततः पूर्वं मूलमित्यादि। प्रथमक्रियावसाने एवमिति चेत् प्रतिज्ञामात्रमेतदित्यापतितम्[२३]। सङ्कुचिता युक्तिः, मया दृष्टस्य मूषिकस्य विषाणमस्ति इतिवत्।

यदि यह कहते हो कि क्रिया के अवसान में ऐसा होता है, (यहाँ नहीं), तो "एषां पल्लवादौ" इस संवाद में क्या क्रिया नहीं है? वहाँ पहले की कथा अपेक्षित नहीं है – यह समझकर पहले तना, फिर जड़ यह पद्धति (आपने) नहीं अपनाई। यदि कहते हो कि पहली बार क्रिया के अवसान में ऐसा किया जाता है, तो यह तो केवल साध्य का कथन मात्र है, इस साध्य के लिए युक्ति नहीं है। जैसे कोई कहे कि मैंने एक चूहा देखा, उसके सींग था, लेकिन इसे सिद्ध न कर पाए।

६. अस्मदर्थवैधुर्यसहितं नटनस्य समीक्षा
(नट द्वारा अस्मदर्थवैधुर्य – कभी आत्मभाव तो कभी परभाव में स्थित रहकर नाट्य करने पर आपत्ति)

अपि च यदिदं कथाप्रयोगे हनूमद्भावेन अवस्थितौ "हनूमानङ्गुलीयकमादत्ते"त्यादिकम् आत्मवृत्तौ अस्मदर्थवैधुर्येण नटनं तत्रापि न किञ्चित् कारणमुपलभामहे। यत्कचित् परभावेनात्मचरितनिवेदनं

---

[२०] यानि यानि मनोज्ञानि वस्तून्यमरवेश्मनि।
तानि तानि किलोद्धृत्य लङ्कां नयति रावणः।। – *आ॰चू॰* ६.२
स्वर्ग में जो-जो मन को पसन्द आने वाली वस्तुएँ हैं, उन्हें उठा-उठाकर रावण लंका में ले आता है।

[२१] सत्यम् एतदिति वचनान्तरम् अमरलोकाद् उत्तमवस्तूनि – P

[२२] द्रष्टव्य पा॰टि॰ २०।

[२३] एवमिति चेत् प्रतिज्ञामात्रम् एतदद् इत्यापतितम् – P

तदा उपक्रमोपसंहारौ[२४] तथैव। नान्यथाऽपि दृष्टम्। इह पुनरात्मभावेनोपक्रान्तम् अनन्तरं परभावेन स्पृश्यते। तत्र किमिति आत्मभावेन एव तन्निष्ठापनमाशङ्कनीयमजनि[२५]। कस्मै वा हेतवे तादृगात्मभावो विनिकीर्यते। कुतो वा अन्यभाववस्थायाम् असौ एव आदौ न परिगृहीतः।

और भी – यह जो कथा के प्रयोग में हनुमान् के भाव में स्थित नट हनूमान् अंगुलीयक (अँगूठी) ले लेते हैं – इत्यादि आत्मवृत्ति की स्थिति में अस्मदर्थवैधुर्य (नट द्वारा हनुमान् के साथ तादात्म्य को छोड़कर हनुमान् और अपने आप को अलग-अलग करके) नटन या अभिनय किया जा रहा है, उसमें भी हमें कोई कारण नहीं दिखता। यदि नट को (अस्मद्भाव के स्थान पर) परभाव (हनुमान् और अपने आप को अलग-अलग करके) ही अपने चरित का दर्शकों तक सूचित करना है, तब उपक्रम और उपसंहार भी इसी प्रकार होने चाहिए (प्रस्तुति में आद्यन्त अलगाव का निर्वाह किया जाना चाहिए। अन्यत्र तो नट ऐसा करता नहीं है। यहाँ आत्मभाव से तो वह आरम्भ करता है, और बाद में परभाव उसे छूने लगता है। इस प्रसंग में भी आत्मभाव से ही निर्वाह करते रहने में आखिर क्यों आशंका आ गई? किस प्रमाण से इस तरह के आत्मभाव को नट यहाँ छितरा देता है? और फिर अन्यभाव ही करना था, तो उसी को आरम्भ से क्यों नहीं किया?

अथोभयथाऽपि[२६] निजवृत्तवर्तनस्य युक्तत्वात् किन्निमित्तमिदं वैमत्यमिति चेदेकस्याप्यस्योभयथा प्राकाश्यत्वमपूर्वमिति[२७]। एतद् भिन्नमिति[२८] चेद् आत्मचरिततत्वेनाभिन्नम्। तथापि भागतो भिन्नमिति चेद् भिन्नः स भागः समारब्धभागस्य शेषो वा न वा। न इति[२९] न युक्तम्। स्पष्टमेव असङ्गतिवल्लभत्वप्रसंगात्। शेषकल्पे तथा एव आत्मभावेन आविष्क्रियतामयं[३०], मा परभावेन। यथा उपक्रान्तभागविभागेषु क्रियान्तरम्। परभावपरिग्रह एव इत्येतन्न प्रामाणिकं यौक्तिकं वा। यस्तु –

> "युधि वनचरवृत्तेरायुधं क्षत्रबन्धो-
> स्तृणमयमविषह्यं रावणेनेति युक्तम्।"

इत्यादौ परभावपरिष्वङ्गः तत्र तदेव कविवचनं प्रमाणम्। न तु एवमन्यत्र[३१] तादृशवृत्तान्तपञ्चिकाटोपे नाटकविधातुरनुमत[३२]लेशोऽपि दर्शनीयः।

यदि यह कहते हो कि दोनों स्थितियों में अपने जिस वृत्तान्त को हनुमान् द्वारा प्रकट करना है, वह

---

[२४] उपक्रमोपसंहारं – P, उपक्रमोपसंहारौ – R

[२५] तन्निष्ठापनम् अशङ्कनीयम् अजनि – P

[२६] अथ उभयथा अपि – P

[२७] किन्निमित्तम् इदं वैमत्यम् इति चेद् एकस्यापि अस्य उभयथा प्राकाश्यत्वम् अपूर्वम् इति – P

[२८] भिन्नम् इति – P

[२९] न इति – P

[३०] शेषकल्पे तथा एव आत्मभावेन अविष्क्रियताम् अयं – P

[३१] एवम् अन्यत्र – P

[३२] नाटकविधातुः अनुमत – P

तो प्रकट हो ही गया (हम चाहे आत्मभाव में रहकर उसे प्रकट करें या परभाव में रहकर, अतः हमारा कभी आत्मभाव में कभी परभाव में रहना अनुचित नहीं है।) इसमें (आपकी ओर से) असहमति क्यों है?

(उत्तर में सिद्धान्तपक्षी कहता है – इसमें असहमति इसलिए है कि) – एक ही नट दोनों भाव (आत्मभाव तथा परभाव) एक साथ करता है – यह यहाँ अपूर्व या अनोखी बात हो जाती है। यदि यह कहते हो कि यहाँ (अंगुलीयक अंक में) प्रसंग भिन्न है, तो हम (सिद्धान्तपक्षी) कहेंगे कि आत्मचरित के रूप में तो सारा प्रसंग एक ही है। यदि यह कहो कि अंशतः भिन्न है – (जिस प्रसंग में हनुमान् का अभिनय करने वाला नट आत्मभाव में अभिनय करता है वह भिन्न प्रसंग है, यहाँ भिन्न प्रसंग है, तो इसके उत्तर में सिद्धान्तपक्षी कहता है –) जिसे आप भिन्न अंश बता रहे हैं, वह भिन्न भाग पहले से आरम्भ हुए भाग (कथा के अंश) का बचा हुआ हिस्सा है या नहीं? यदि कहो कि नहीं है, तो यह कहना तो ठीक नहीं। स्पष्ट है कि ऐसा कहने में तो अत्यधिक असंगति है। इसलिए कथा के बचे हुए अंश को भी आत्मभाव से ही अभिनीत किया जाना चाहिए, परभाव से नहीं। इसी तरह आरम्भ कर दिए गए कथा के अंशों में क्रियान्तर (अन्य क्रियाएँ) जोड़ना उचित नहीं)। क्रिया के जोड़ने से यह जो परभावपरिग्रह आ जाता है वह न तो प्रामाणिक है और न ही युक्तिसंगत। "युधि वनचरवृत्तेरायुधं" इत्यादि श्लोक[३३] के प्रसंग में परभाव का आश्रय लिया जाता है, वहाँ तो कविवचन ही प्रमाण है, अन्यत्र इस तरह के वृत्तान्त की पञ्जिका के आटोप (जबरदस्ती ठूँसने) में तो नाटक के विधाता (नाटककार) की लेशमात्र भी अनुमति नहीं दिखती।

७. अभिनये आत्मभाव-परभाव-विवेकः
(अभिनय करते समय नट के आत्मभाव और परभाव में विवेक)

अपि च इह "मया" इत्यादिवैलक्षण्येन रावणेन इत्यादिना प्रकृतोपयोगि किञ्चिद् वस्तु प्रकाश्यते, यत् प्रकारान्तेण न शक्यम्।

तथा हि अत्र रावणेन इत्यतः रावणो हि निरतिशयशौर्यसारातिरेकविवर्त इति प्रतीयते, अर्थान्तर-संक्रमितवाच्यत्वात्। तथा "न खलु शङ्खचूडः स्वामिद्रोहनिर्वादस्पर्शादिभीरुः इति, शङ्खचूडहतक किं त्वया कृतम्" इत्यादौ तादृग्भङ्ग्या विषादनिर्वेदप्रकर्षो द्योत्यते। एवमन्यत्रापि[३४]।

और भी यहाँ "मया" इस कथन में विलक्षणतापूर्वक रावण प्रकृत प्रसंग में उपयोगी कुछ वस्तुतथ्य प्रकट कर रहा है, वह प्रकारान्तर से सम्भव नहीं है (इसलिए यहाँ परभाव में रहना उचित है)। क्योंकि रावण द्वारा – इस कथन में रावण असीमित शौर्य के सार के अतिरेक का विवर्त्त प्रतीत होता है और अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनि होती है, जबकि इस तरह की ध्वनि शंखचूड़ स्वामी के द्रोह का प्रवाद लग जाने से डरता नहीं है – इस संवाद में या अरे नीच शंखचूड तूने यह क्या किया – इस संवाद में इसी भंगिमा के साथ विषाद और निर्वेद का प्रकर्ष द्योतित नहीं होता। इसी तरह अन्यत्र भी समझना चाहिए।

अत्र तु कथाग्रहे नैतादृशम् अन्यत् किञ्चिदपि भाति, केवलं तन्मात्रमेव। तस्मादहं हनूमान्,

---

[३३] युधि वनचरवृत्तेरायुधं क्षत्रबन्धोस्तृणमयमविषह्यं रावणेनेति युक्तम्।
किसलयसुकुमारं वक्षसा येन सोढं क्षितिधरपतिपक्षच्छेदि वज्रं मघोनः।। – *आ॰चू॰ ५.८*

[३४] एवम् अन्यत्र अपि। – P

अहमेवमकरवमित्याद्यभिनयः एव[३५] युज्यते। तदा।

तस्मिन् प्लवगशार्दूले प्लवमाने हनूमति।

इत्यादि पद्यगानम् अनुपपन्नम्, मयि प्लवगशार्दूले इत्याद्येव उपपन्नम्। यथा "लङ्का प्राप्तोऽस्मि" इत्यादौ।

स्ववृत्तालोचने तेन कृतमेवमितीह यः।
असपद्योऽभिनयः सोयं कथं सङ्गतिमिङ्गति॥७६॥

यहाँ (अंगुलीयक अंक के प्रसंग में) कथा के विकास में ऐसा कोई प्रसंग नहीं है, जो प्रसंग पहले से चला आ रहा था, उसी का सातत्य है। इसलिए मैं हनुमान् हूँ, मैंने यह किया है (इत्यादि आत्मभाव में रहकर) ही अभिनय किया जाना उचित होगा। ऐसी स्थिति में –

"तस्मिन् प्लवगशार्दूले प्लवमाने हनूमति (वानरों में सिंह उस हनुमान् द्वारा सागर तैरते समय ...)" इत्यादि पद्य[३६] का गान अनुचित हो जाएगा, "मयि प्लवगशार्दूले (वानरों में सिंह मुझ हनुमान् द्वारा सागर तैरते समय...)" – इस तरह से गान होना चाहिए, जिस तरह "लङ्कां प्राप्तोऽस्मि (मैं लंका में आ गया)" इस संवाद में आत्मभाव के साथ ही अभिनय होता है॥

यदि यह कहो कि कथा के प्रसंग में हनुमान् अपने ही वृत्तान्त का समीक्षण (अपने से अलग होकर – अपने आप को अन्य पुरुष के रूप में देखते हुए कर रहे हैं) इसलिए उनका अभिनय करने वाले नट ने भी इस प्रसंग में ऐसा किया, तब यह प्रश्न आता है कि हनुमान् अपने मन में जो विचार कर रहे हैं, उसे पद्य में अभिनय के साथ कहने में संगति कहाँ रह गई? ॥७६॥

किञ्चैतादृशपरभावेन[३७] स हनूमान् समुद्रमुत्तीर्य लङ्कामाससाद[३८] इत्यभिनीय पुनः लङ्कां प्राप्तोऽस्मीति[३९] पठ्यते। तत्र "स हनूमान् लङ्कां प्राप्त" इति किमेतत्। कथमनयोर्घटना[४०]। अत्र हि कर्तुर्भेदो भाति। तदभेदश्रद्धायां तु मध्ये एतावदानीतपरभावनिवर्तनेन आत्मभावग्रहणं युक्तम्। य एवमम्भोधितरणेन राक्षसपुरमागतः सोऽहमिति[४१]। यथा दशकुमारचरिते मरीचिप्रवृत्तौ। न च तथाभावस्य अर्थसिद्धत्वं भवति इति वाच्यम्, असंबन्धपरिहारार्थं साक्षात्प्रतिपादनीयत्वात्।

---

[३५] तस्माद् अहमादि अहमेवम् अकरवम् इत्याद्यभिनयः एव

[३६] तस्मिन् प्लवगशार्दूले प्लवमाने हनूमति।
इक्ष्वाकुकुलमानार्थी चिन्तयामास सागरः।। – *रामायण* ६.८७

[३७] किं च एतादृशपरभावेन – P

[३८] समुद्रम् उत्तीर्य लङ्काम् आससाद – P

[३९] प्राप्तोस्मि इति – P

[४०] कथम् अनयोः घटना – P

[४१] यः एवम् अम्भोधितरणेन राक्षसपुरम् आगतः सोहम् इति – P

विवित्सायां कस्मादिदम् आदिमस्वभावावासनेन अन्तरा नागकन्यासुरतसुहृदमित्येतावदुक्त्वा[४२] तदनन्तराभिनीयमानमैनाकागमनादौ।

और इस तरह के परभाव के साथ हनुमान् समुद्र पार करके लंका में पहुँच गए यह अभिनय दिखाकर – अब मैं लंका में आ गया – यह कहकर फिर (आत्मभाव के साथ) अभिनय होने लगता है। वहाँ पर तो हनुमान् का अभिनय करने वाला नट "वे हनुमान् लंका पहुँच गए" – यह कह रहा है और यहाँ "मैं लंका आ गया" यह कह रहा है – इन दोनों की संगति कैसे बैठेगी? यहाँ कर्ता से भेद है, वहाँ अभेद में श्रद्धा होने पर यहाँ जो परभाव की स्थिति थी, अब वह निवृत्त हो गई, और हनुमान् का पात्र अब आत्मभाव में आ गया यह उचित हुआ कि सागर पार करने वाला वही हनुमान् मैं हूँ। जिस प्रकार *दशकुमारचरित* में मरीचि[४३] के वृत्तान्त में। (वहाँ मरीचि अपना वृत्तान्त अन्यपुरुष में बताते हैं, इससे ऐसा करना स्वतःसिद्ध नहीं हो जाता। क्योंकि कथा में सम्बन्ध बनाए रखने के लिए साक्षात् प्रतिपादन करना उचित है। ऐसी स्थिति में पहले आत्मभाव से कथा आरम्भ करके बाद में अन्यभाव से कथन करने लग जाना कैसे उचित हो सकता है? यही स्थिति "मैनाकं नागकन्यासुरतसुहृदम्" इस संवाद को बोलकर फिर उस पर अभिनय करते हुए चलने के प्रसंग में भी है।

८. नटेन स्वाभिनीतपात्रव्यतिरिक्तमन्यपात्रस्यानुकृतौ विप्रतिपत्तिः
(नट द्वारा स्वाभिनीत पात्र के अतिरिक्त दूसरे पात्र का अभिनय करने लग जाने पर आपत्ति)

यच्च इदम् अन्यवर्णिकापरिग्रहे अन्यानुकरणं[४४] तदपि निरूपणीयम्। नाट्ये खलु एकस्यानुकरणे[४५] वाचिकाङ्गिकाहार्यसात्त्विकात्मकाश्चत्वारोऽभिनयाः[४६] प्राचीनैः प्रोचिरे। तैश्च समुदितैर्भवितव्यम्[४७]। अपरथा अनुकृतिवैकल्यप्रसङ्गात्। तथा च उक्तम्।

चतुर्विधश्चापि भवेदर्थस्याभिनयो द्विजाः।
अनेकभेदकरणाद्यस्मिन्नाट्यं प्रतिष्ठितम्॥[४८]

---

[४२] नागकन्यासुरतसुहृदम् अत्येतावद् उक्त्वा – P

[४३] *दशकुमारचरित* दण्डी का गद्यकाव्य है, जिसमें दस कुमारों की आपबीती है। इन कुमारों में से एक अपहारवर्मा की आपबीती में मरीचि ऋषि की आपबीती भी सम्मिलित हो जाती है। अपहारवर्मा राजकुमार राजवाहन का पता लगाने के लिए भटकता हुआ उनके आश्रम में जा पहुँचता है, मरीचि उसे चम्पा पहुँचने का मार्ग बताते हैं, फिर अपना वृत्तान्त भी सुनाते हैं, जो पूर्वघटित वृत्तान्त है।

[४४] यच्च इदम् अन्यवर्णिकापरिग्रहे अन्यानुकरणं – P

[४५] एकस्य अनुकरणे – P

[४६] सात्त्विकात्मकाः चत्वारोऽभिनयाः – P

[४७] समुदितैः भवितव्यम् – P

[४८] *नाट्यशास्त्र* ८.८। *नटाङ्कुश* में उद्धृत कारिका का *नाट्यशास्त्र* के वडोदरा संस्करण से पाठभेद है। विशेषरूप से कारिका का उत्तरार्द्ध *नटाङ्कुश* में काफी अलग है। वडोदरा संस्करण में पूरी कारिका इस प्रकार है –
चतुर्विधश्चैव भवेन्नाट्यस्याभिनयो द्विजाः।
अनेकभेदबहुलं नाट्यं ह्यस्मिन्प्रतिष्ठितम्।।

इति। एवं सति वेषेण हनूमद्भावम् अवलम्ब्य अवस्थितौ रामादि भावाङ्गीकरणं न उपपद्यते, यत्र –

नाहमस्मिन् प्रभुः कार्ये वानरेन्द्र न लक्ष्मणः।[४९]

इत्यादि श्लोकानुबन्धो जागर्ति। आहार्यस्य च आङ्गिकादेश्च संबन्धिभेदपरिग्रहोऽयम् औचित्यस्य गलार्धचन्द्रः। तदानीं नाट्यजीवातुभूतस्य रसस्य कीदृशी दशा भवेत्। यदुक्तम्।

"अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्"।[५०] इति।

और यह जो दूसरे के वर्णिकापरिग्रह (वेश धारण करना, सज्जा) के अवसर पर अन्य का अनुकरण किया जा रहा है, उस पर भी विचार होना चाहिए। नाट्य के प्रयोग में एक के अनुकरण में वाचिक, आंगिक, आहार्य और सात्त्विक ये चारों ही अभिनय पुराने आचार्यों ने बताए हैं। इनका प्रयोग एक साथ होना चाहिए, नहीं तो अनुकृति बिगड़ जाएगी। जैसा कि कहा भी है –

> हे द्विजों, नाटक के किसी भी प्रसंग का अभिनय चार प्रकार का हो सकता है – अनेक भेदों वाला नाट्य इसी में प्रतिष्ठित है।

ऐसी स्थिति में जब नट वेश से हनुमान् का भाव धारण करके मंच पर स्थित है, तो उसका राम आदि के भाव को स्वीकार कर लेना उचित नहीं है। जैसा हनुमान् के पात्र द्वारा राम के कथन – हे वानरेन्द्र, इस कार्य में न तो मैं समर्थ हूँ, न लक्ष्मण ही। हनुमान् का अपने वानर वेश के आहार्य और आंगिक अभिनय से भिन्न आहार्य और आंगिक वाले पात्र (राम) का अभिनय करने लग जाना औचित्य को गरदनिया देकर बाहर निकाल देना हुआ। ऐसी स्थिति में नाट्य के जीवनरूपी रस की क्या दशा होगी? जैसा कहा भी है – "अनौचित्य के अतिरिक्त रसभंग का और कोई दूसरा कारण नहीं होता।"

> *टिप्पणी* – वर्णिकापरिग्रह शब्द का प्रयोग नाट्यप्रस्तुति के पहले नटों या अभिनेताओं की साज-सज्जा के अर्थ में भवभूति ने *मालतीमाधव* नाटक की प्रस्तावना में भी किया है।

कपिरूपमुपादाय लाङ्गूलादिविशेषितम्।
सीता भूत्वा विलासादिनटनं साधु साध्विदम्॥७६॥

---

[४९] *रामायण*, किष्किन्धाकाण्ड, ४०.१२ का पूरा श्लोक इस प्रकार है –
नाहमस्मिन् प्रभुः कार्ये वानरेन्द्र न लक्ष्मणः।
त्वमस्य हेतुः कार्यस्य प्रभुश्च प्लवगेश्वर।।
राम सुग्रीव से कहते हैं – हे वानरेन्द्र, इस कार्य – सीता अन्वेषण – को करने में न तो मैं समर्थ हूँ न ही लक्ष्मण। इस कार्य को पूरा करने के लिए तुम ही हेतु हो सकते हो तथा तुम इसके लिए समर्थ भी हो।

[५०] *ध्वन्यालोक* ३.१४ पूरी कारिका इस प्रकार है –
अनौचित्याद् ऋते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा।।
अनौचित्य के अतिरिक्त रसभंग का अन्य कोई कारण नहीं होता। प्रसिद्ध औचित्य का निर्वाह रस का परम सार है।

एकोऽनुकार्यो वेषेण, तथान्यस्त्वाङ्गिकादिना।
इति केनोपदिष्टं वा क्व वा लौकिकमागमे॥७७॥

पूँछ आदि (वानर के चिह्नों) से युक्त कपिरूप को धारण करके हनुमान् (का अभिनय करने वाला नट) सीता बनकर विलासपूर्वक जो नटन करने लग गया यह तो बड़ा अच्छा हुआ॥७६॥

वेश किसी अनुकार्य (मूल पात्र) का हो, आंगिक किसी दूसरे पात्र का किया जाए, यह व्यवहार किसने बताया, कौन से आगम में इसका उपदेश दिया गया है?॥७७॥

९. एकेन नटेन अनेकभूमिकापरिग्रहे आसाधारणं कौशलमिति पूर्वपक्षिणस्तर्कः, तस्य खण्डनं च

(पूर्वपक्षी का तर्क कि एक नट द्वारा अनेक भूमिकाएँ एक साथ किया जाना आसाधारण कौशल है और उसका खण्डन)

ननु च साधारणं तावत् पृथक् पृथगाहार्यपरिग्रहेण नाट्यम्, इदं पुनरतिपेशलं कौशलं, यदेकवर्णिकासमालम्बनेऽन्यानुकरणमुद्भाव्यते[५१]। तस्यामपि विधायां प्रेक्षकजनस्य निसर्गतो निश्शेषगुणदोषविवेकनिष्णातहृदयस्य चमत्कारोदयदर्शनात्।

अत्र अभिधीयते, भो विद्वन्, कियदिदं कौशलं हनूमद्भूमिकाम् आदाय वर्तमानस्य रामोऽहम् इति सङ्कल्पमात्रकरणं किमिति दुष्करं भवेत्। न खलु तथा मनने अमुष्य रामभावः सञ्जातो दृश्यते, येन कौशलं कुशलि स्यात्।

यदि यह कहते हो कि नाटक में प्रत्येक पात्र का आहार्य या वेशभूषा अलग-अलग हो यह तो साधारण बात है, और यह असाधारण मनोहर कौशल होगा कि वेशभूषा और साज-सज्जा जिस पात्र की है, उससे भिन्न पात्र का अभिनय कोई नट (अपनी मूल भूमिका में रहते हुए ही) कर डाले। इस तरह की विधा में भी समस्त गुणों और दोषों में भेद करने में निपुण हृदय वाले प्रेक्षकजनों को स्वाभाविक रूप से चमत्कार का अनुभव होता है – यह बात देखी गई है।

इसके उत्तर में कहते हैं – हे विद्वान्, हनुमान् की भूमिका में उतरे हुए पात्र का यह संकल्प मात्र कर लेना कि "मैं राम हूँ" – कौन सा बड़ा कौशल है, और इसमें ऐसा दुष्कर भी क्या है। "मैं राम हूँ" ऐसा मनन कर लेने से तो उसमें सचमुच का रामभाव आ नहीं जाएगा, जिससे उसका ऐसा कौशल प्रशस्य बन जाए।

ननु च तदानीम् अस्मिन् नटे रामसम्बन्धिनामनुभाव-[५२]कार्यचिन्ताकान्तावियोगवैक्लव्यादीनां दर्शनात्, किं रामत्वं सञ्जातं न दृश्यते।

मैवम्। ते विरहवेदनादयो वितन्यमानाः भावाः रामस्य एते इति न प्रतीयन्ते। कथमिव तथा प्रतीयन्तां नाम। पुरतः परिस्फुरत्काकलेखालाङ्गूलादिदर्शने रामोऽयम् इति प्रतीत्यभावात् वानरः इति प्रतीतिभावाच्च। तदानीं पुनरयमात्मानुचितं[५३] यत्किञ्चित् चेष्टते इत्येव प्रतिभाति।

---

[५१] यद् एकवर्णिकासमालम्बने अन्यानुकरणम् उद्भाव्यते – P

[५२] रामसम्बन्धिनाम् अनुभाव – P

[५३] प्रतीतिभावात् च। पुनः अयम् आत्मानुचितं – P

अस्तु वा तत्रापि रामत्वम्, इदं तु वक्तव्यम्। इह भिन्नसम्बन्धिनोरभिन्नसम्बन्धिनोश्चानयोर्वेषाङ्गिकाद्योः[४४] साम्यं वा समस्ति, तारतम्यं वा। न साम्यं, कथमिव हनूमद्भूमिकया रामभावनटनं रामभूमिकाविशेषितरामभावनटनमिव स्यात्। तारतम्यं च कीदृशमिति चिन्तायां तावत् समुचितवेषसचिवनटने प्रेक्षकाणां रामोऽयमिति प्रतिपत्तिः परिपूर्णा, अन्यथा न परिपूर्णा इति भवति। तदा प्रतिपत्त्यनुसारेण तद्विषयभूतस्य अनुकरणस्य अपि तथा परिपूर्णतापरिपूर्णते स्याताम्। तथात्वं पुनः वेषान्वयव्यतिरेकानुविधायि इति नूनमेषितव्यम्[४५]।

पूर्वपक्षी कहता है – उस समय (हनुमान् का अभिनय करने वाले) इस नट में राम से सम्बन्धित अनुभाव – कार्य की चिन्ता, प्रिया से वियोग के कारण होने वाली विकलता आदि – दिखाई देने लगते हैं, तो वह नट प्रत्यक्ष ही रामस्वरूप हो गया – यह क्यों नहीं देखते?

(उत्तर में सिद्धान्तपक्षी कहता है) – ऐसी बात नहीं है। हनुमान् के पात्र का अभिनय करने वाले नट में जो विरह-वेदना आदि भाव झलक रहे हैं, वे राम के हैं – ऐसी प्रेक्षक की प्रतीति नहीं होती। प्रतीति होगी कैसे? क्योंकि सामने तो कौवे के समान आँखें व चमकती पूँछ देखकर यह राम है – ऐसी प्रतीति हो नहीं सकेगी, और यह वानर है यही प्रतीति बनी रहेगी। अतः प्रेक्षक को यही लगता रहेगा कि यह वानर (का अभिनय करने वाला नट) जो कुछ चेष्टा कर रहा है, वह उसके चरित्र के अनुरूप नहीं है। मान भी लिया कि हनुमान् का अभिनय करने वाले नट में रामत्व की प्रतीति हो जाएगी, परन्तु इसमें भी यह तो बताना होगा कि राम और हनुमान् के दो पात्रों में भिन्न सम्बन्ध मानें या अभिन्न सम्बन्ध मानें? इनके वेश और आंगिक आदि में साम्य है या तारतम्य? साम्य तो हो नहीं सकता, हनुमान् की भूमिका में राम के भाव का अभिनय राम की भूमिका से विशेषित राम के भाव के अभिनय के समान होगा। तारतम्य भी कैसा होगा – इस पर विचार करते हैं तो यही कह सकते हैं कि समुचित वेश धारण करके अभिनय करने पर ही प्रेक्षकों को – यह राम है – ऐसी परिपूर्ण प्रतीति हो सकती है, अन्यथा परिपूर्ण प्रतीति नहीं होगी। तब इस प्रतीति के अनुसार इसके विषय राम के अनुकरण की भी परिपूर्णता होगी। इस परिपूर्णता के लिए जिस पात्र का अभिनय करना है, उसी का वेश होने पर यह होगी, अन्यथा नहीं – इस प्रकार का अन्वय और व्यतिरेक मानना आवश्यक है।

१०. विकलनटने कौशलम्, अविकलनटने वेति पर्यालोचना
(विकल अभिनय में कौशल है या अविकल में – इस प्रश्न पर विचार)

एवं स्थिते विकलनटनं वाऽत्र कौशलमविकलनटनं वेत्येतदेव[४६] पर्यालोचनीयं वर्तते। तत्राविकलनटनं कौशलमिति चेदिदमेकभूमिकाकरणे अन्यानुकरणमकौशलमिति[४७] समापतितम्, वेषराहित्येन तस्य विकलत्वात्। यदि पुनस्तदा परिगृहीतवेषतिरोभावनमनुचिकीर्षितवेषाविर्भावनं च

---

[४४] भिन्नसम्बन्धिनोः अभिन्नसम्बन्धिनोः च अनयोः वेषाङ्गिकाद्योः – P

[४५] पुनः वेषान्वयव्यतिरेकानुविधायि इति नूनमेषितव्यम् – P

[४६] एवं स्थिते विकलनटनं वा अत्र कौशलम् अविकलनटनं वा इत्येतद् एव – P

[४७] तत्र अविकलनटनं कौशलम् इति चेद् इदम् एकभूमिकाकरणे अन्यानुकरणम् अकौशलम् इति – P

शक्यते ततः कौशलम् अक्षतं[५४] स्यात्। तत् कथं शक्यते। केन खलु प्रकारेण अभिव्याप्तः पुरोवर्ती स्फुटदृश्यमानो वेषः प्रतीतिभूमेः अपनीयते। कथं वा अपरो गगनारविन्दसुन्दरः प्रतिभासदिशम् आनीयेत।

ऐसी स्थिति में यहाँ यही विचार करने को बचता है कि हनुमान् का अभिनय करने वाले नट का कौशल विकल नटन में है या अविकल नटन में? यदि कहो कि अविकल नटन में ही कौशल है, तो एक भूमिका करते हुए अन्य की भूमिका करने लग जाने का अकौशल इसमें आ जुड़ता है, क्योंकि हनुमान् की भूमिका करने वाले नट ने राम का वेश धारण नहीं किया, अतः आहार्य की न्यूनता के कारण यहाँ अकौशल हो गया। यदि जिसकी भूमिका चल रही है उसके (हनुमान्) वेश के साथ अन्य भूमिका के पात्र (राम) का वेश भी यदि उसी समय धारण कर लिया जाए, तो कौशल अक्षत बना रहेगा। परन्तु ऐसा हो कैसे सकता है? जो वेश शरीर पर सब ओर से लपेटा गया है और सामने ही साफ दिख रहा है, वह प्रतीति पथ से कैसे हटाया जा सकता है? और गगनारविन्द (आकाशकुसुम) के सदृश अन्य वेश उसी समय कैसे प्रतीति पथ पर लाया जा सकता है?

स्यान्मतम्। अन्यदीयोऽपि परिगृहीतवेषोऽन्तरान्तराऽनुचिकीर्ष्यमाणानामात्मीयवेष-इवावभाति[५५], आङ्गिकस्य चमत्कारकारित्वेन प्राधान्याद्, इतरस्य तदनुगामित्वाच्चेति[५६]।

नैतत्, तथा उपलम्भानुदयात्।
रामवेषीभवेदेष वेषो हनुमतो यदि।
हनूमानेव रामोऽपि नान्य इत्येव कथ्यताम्॥७८॥

मान भी लिया कि एक भूमिका करता हुआ पात्र अन्य की भूमिका भी साथ करने लग जाए, तो उसका वेश भी अन्य भूमिका के वेश जैसा प्रतीत होने लग जाएगा। क्योंकि चमत्कार तो आंगिक अभिनय का है, प्रधानता भी उसी की है अन्य (आहार्य) अभिनय तो उसका अनुगामी है। परन्तु यह भी सम्भव नहीं, क्योंकि इस तरह की उपलब्धि (आंगिक के चमत्कार के कारण आहार्य का अन्यथा भासित होने लगना) हो नहीं पाती। यदि हनुमान् का वेश राम के सदृश हो सके, तो यह हनुमान् ही राम है – ऐसा कह सकते हो॥७८॥

यद्यसौ परिणामः स्यात्, प्रत्यापत्तिप्रथा कथम्।
क्षीरं दधिदशाप्राप्तं न पुनः क्षीरतां व्रजेत्॥७९॥

तस्माद् एकस्य वेषो नान्यस्य[५७] बोभवीति।

इत्थं स्थिते पुनः

यत्र नाट्यविधौ स्वात्मवेषभावो न केवलम्।
अन्यवेषावलम्बोऽपि ततोऽन्यत् किमकौशलम्॥८०॥

---

[५४] पुनः तदा परिगृहीतवेषतिरोभावनम् अनुचिकीर्षितवेषाविर्भावनं च शक्यते ततः कौशलम् अक्षतं – P

[५५] परिगृहीतवेषः अन्तरान्तरा अनुचिकीर्ष्यमाणानाम् आत्मीयवेषः इव अवभाति – P

[५६] तदनुगामित्वात् च इति – P

[५७] तस्माद् एकस्य वेषो न अन्यस्य – P

यदि यह कहा जाए कि राम की प्रतीति एक परिणाम है, तो इसकी विश्वसनीयता कैसे हो पाएगी? एक बार दूध दही बन गया, तो वह फिर से दूध नहीं बन सकता ॥७९॥

अतएव एक का वेश अन्य का वेश हो जाए यह सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में –

नाट्य के विधान में जहाँ केवल अपनी स्वयं की भूमिका का वेश भाव ही नहीं, अन्य भूमिका के वेश भाव का भी अवलम्बन होने लगे, तो इससे बढ़कर अकौशल या अनाड़ीपन और क्या हो सकता है? ॥८०॥

प्रेक्षकाणां च तत्र परितोषाभास एव भवति, वेषाननुकूलभावनटनपैशाचिकालोकनजनित-विषमप्रतीतिकदर्थित हृदयदुःस्थावस्थित्वात्। एकाकित्वादेवमिति[६२] चेत् किं ब्रूमः। सहायसाध्या किल धूरेषा मार्दङ्गिकाद्यभावे का खलु प्रतिपत्तिः, स्वयमभावे वा।

प्रेक्षकों को इसमें (वास्तविक परितोष नहीं) परितोषाभास ही होता है, क्योंकि वे वेश के अननुकूल भाव के नटन करने की पैशाचिक स्थिति के अवलोकन से उत्पन्न विषम प्रतीति द्वारा मन मसोसकर रह जाते हैं। यदि यह कहो (मंच पर हनुमान् का ही अकेला पात्र है, उसी से उसकी तथा अन्य पात्रों की भी भूमिका करानी है), तो इसमें अब क्या कहें। (रंगमंच के संसार की) यह धुरी तो सहायकों से ही साध्य होती है, (एक ही पात्र होने का बहाना किया है), फिर मार्दंगिक भी नहीं मिलेगा, तो क्या करोगे या (हनुमान् का अभिनय करने वाला नट भी) स्वयं न हो तो क्या करोगे?

११. नाट्यशास्त्रोक्तनाट्यधर्मीकृताभिनयसम्मतं एकस्य नटस्य बहुभूमिकाकरणमिति पूर्वपक्षिणो वादस्य निराकरणम् (एक नट द्वारा अनेक भूमिकाएँ करना नाट्यशास्त्र सम्मत है – पूर्वपक्षी के इस कथन का निराकरण)

ननु यद्येवम्,

यदेकां भूमिकां कृत्वा, कुर्वीतैकान्तरेऽराम्।
कौशल्यादेककत्वाद्वा, नाट्यधर्मीकृतं तु तत्॥[६३]

इत्यस्य कोऽर्थः।

(पूर्वपक्षी प्रश्न करता है) – अच्छा, यदि ऐसी बात है, तो –

यदेकां भूमिकां कृत्वा, कुर्वीतैकान्तरेपराम्।
कौशल्यादेककत्वाद्वा, नाट्यधर्मीकृतं तु तत्॥

मंच पर कोई पात्र अकेला होने के कारण अथवा अपनी नाट्यकुशलता के कारण, एक भूमिका करके बाद में दूसरे की भूमिका करने लग जाए, तो यह नाट्यधर्मी पद्धति है।

---

[६२] एकाकित्वाद् एवम् इति – P

[६३] *नाट्यशास्त्र* १३.७७, वडोदरा संस्करण में किञ्चित् पाठभेद है, वहाँ यह कारिका इस प्रकार है –
य एकां भूमिकां कृत्वा कुर्वीतैकान्तरेऽपराम्।
कौशल्यादेककत्वाद्वा नाट्यधर्मी तु सा स्मृता।।

(*नाट्यशास्त्र* के) इस वचन का क्या अर्थ है?

भो दृष्टम् एतदर्थश्रमेण इदं[६४] दुर्विलसितम्। अस्यार्थस्तु सहप्रवृत्तिमतः अनेकस्य अनुकार्यस्य यथायोगम् एकस्य भूमिकया अनुकरणम् आरचय्य तदवान्तरविच्छेदे सपदि तां विसृज्य इतरभूमिकामादाय नटनं नाट्यधर्मी इति।

वस्तुतः तयोः अन्योन्यसमक्षो व्यवहारः। इह पुनरेकस्य व्यवहारभागसमये अन्यस्य पुरस्ताद् अवस्थानं सङ्कल्पितम्। लोके हि असिद्धः प्रकारः नाट्यधर्माकौशलं च तदानीं भवेत्। मुहुर्मुहुः वेषपरिवर्तनविकल्पाद् एक एव तत्तत्स्वभावसमुन्मीलनम् आदधाति इति एकाकित्वमपि हेतुतया प्राप्नोति। अमुष्य सूक्तस्य त्वदभिमतार्थातायां पुनः पूर्वापरविरोधस्तावद् आपद्येत। वक्ष्यते खलु –

> या यस्य लीला नियता गतिश्च रङ्गप्रविष्टस्य विधानयुक्ता।
> तामेव कुर्यादविमुक्तसत्त्वो यावन्न रङ्गात् प्रतिनिर्गतोऽसौ॥[६५]

(इसकी प्रतिक्रिया में उत्तरपक्षी कहता है) – अरे, समझ में आ गया। (भरतमुनि की इस कारिका) के अर्थ को घुमाकर ही आप यह सारा दुर्विलास कर रहे हैं। (भरतमुनि के इस कथन का वास्तविक) आशय है – समान प्रवृत्ति वाले अनेक अनुकार्यों (नाटक के पात्रों) की क्रम से एक की भूमिका का अनुकरण करके उसके अनन्तर विच्छेद करके भूमिका को विसर्जित करके अन्य भूमिका का ग्रहण करके नाट्य करना नाट्यधर्मी है।

वस्तुतः यहाँ जो आप कर रहे हैं उसमें दो भूमिकाओं का व्यवहार एक-दूसरे के आमने-सामने हुआ जा रहा है। पद्धति यह है कि एक पात्र के रहते उसके सामने अन्य पात्र की एक साथ अवस्थिति संकल्पित की जाती है। लोक के व्यवहार में असिद्ध नाट्यधर्मी की पद्धति का कौशल तभी हो पाएगा। बार-बार वेश बदलने के विकल्प के स्थान पर एक ही पात्र उस वेश में अन्य भूमिका के स्वभाव को भी प्रकट कर देता है इस कारण से वह अकेला हो जाता है। भरत के वचन का आपने जो अपना अभिमत अर्थ निकाल लिया उसमें तो पूर्वापरविरोध हो जाता है। क्योंकि आगे भरतमुनि ने कहा है – रंगमंच पर प्रवेश करने वाले जिस पात्र की जो लीला विधान के अनुसार निर्धारित है, और जो गति नियत है, वह सत्त्व का त्याग किए बिना उसी को निभाए, जब तक कि वह मंच से निष्क्रमण नहीं कर लेता।

इति वेषाङ्गिकाद्योः भिन्नसम्बन्धितायां स्वभावपरित्यागः सञ्जायते, अपरभूमिकाकरणमपि[६६] नैव भवति, वेषाभावात्।

नाट्यन्यायविरोधश्च परिस्फुटः। अंशत्रयमपि आहार्यमिति लोकवादः अत एव न एष प्रकारो नाट्यधर्मी भवितुमर्हति। लोकधर्मीति शङ्कैव[६७] न कस्यचित्।

---

[६४] दृष्टम् एतदर्थश्रमेण इदं – P

[६५] *नाट्यशास्त्र* २५.११८, प्रोफेसर उन्नि ने इसका सन्दर्भ २५.१२० दिया है।

[६६] अपरभूमिकाकरणम् अपि – P

[६७] लोकधर्मी इति शङ्का एव – P

इस तरह (आपकी पद्धति में) वेश और आंगिक दोनों का सम्बन्ध टूट जाने से स्वभाव परित्याग हो जाता है, और जो नट एक भूमिका कर रहा है, वह अचानक दूसरी भूमिका ग्रहण कर लेता है, उसका निभाव भी नहीं हो पाता, क्योंकि इस दूसरी भूमिका का वेश उसने धारण नहीं किया है।

और नाट्यन्याय का विरोध भी यहाँ एकदम स्पष्ट है। लोक में कहा जाता है कि तीनों अंश आहार्य हैं, अतः यह प्रकार नाट्यधर्मी नहीं हो सकता, और इसके लोकधर्मी होने की तो कोई शंका भी किसी को नहीं हो सकती।

१२. हनुमतो भूमिकायां नटस्य सीतानुकरणसमये चेलाञ्चलोल्लम्बने आक्षेपः (हनुमान् की भूमिका करते हुए नट का सीता का अनुकरण करने लग जाना और आँचल पकड़ना – इस पर आक्षेप)

अङ्ग भोः! यदिदं कपिवरभूमिकायां सीतानुकरणोपक्रमे चेलाञ्चलोल्लम्बनं क्रियते तत् किन्नाम भवेत्। ननु स्त्रीस्वभावसूचकं तत्, तासां वसनप्रकारस्य तादृक्त्वात्। तर्हि मधुकरीनटने कीदृगेतत् स्यात्? वसनप्रकारतायां वा किं तावता एव सीतात्वं सम्पन्नं भवति?

हनूमान् बालतः पृष्ठे, सीता वसनतः पुरः।
अहो नाट्याधिरूढस्य वेषोपादानचातुरी॥८१॥

एवं च अनिच्छयापि[६४] सीतायाः किञ्चित् प्रवेशो भवतु इति अभ्युपेतव्यम्। ततः सीताद्रौपद्योः न प्रवेश इति एवं कल्याणसौगन्धिकादि-[६५]घटितभीमादिवर्णिकापरिस्थितौ स्तोकप्रवेशो दृश्यते। कृतमिह प्रसङ्गान्तरेण।

आहार्येण कपिश्रेष्ठो, रामादिस्त्वाङ्गिकादिना।
दृश्यते सममेकत्रेत्येष कुत्र भवो नयः॥८२॥

अरे, यह जो कपिवर (श्रेष्ठ वानर हनुमान्) की भूमिका में सीता का अनुकरण करते हुए वस्त्र के आँचल को ऊपर ढलकाया, यह क्या है? यदि कहो कि यह स्त्री स्वभाव का सूचक है, क्योंकि उनका पहनावा ही ऐसा होता है। तो फिर मधुकरी या भ्रमरी का अभिनय करना पड़ गया तो क्या करोगे? क्या केवल कपड़े की झलक दे देने से हनुमान् का अभिनय करने वाला नट सीता बन जाता है?

हनुमान् बालक के रूप में पीछे है, कपड़े या आँचल को झलकाने के द्वारा सीता आगे है! अहो, नाट्य में अधिरूढ़ नट की यह कैसी वेषोपादानचातुरी है!॥८१॥

(पूर्वपक्षी कहता है) – इस तरह अनिच्छा से ही सही, सीता का कुछ प्रवेश हो जाए यह मान लीजिए। फिर सीता और द्रौपदी जैसे पात्रों का वास्तव में प्रवेश न कराना हो, तो उसी तरह एक झलक दिखाने

---

[६४] अनिच्छया अपि – P

[६५] *कल्याणसौगन्धिक* एक व्यायोग कोटि का रूपक है, जिसके रचयिता नीलकण्ठ हैं। यह रूपक *महाभारत* में वर्णित एक प्रसंग पर आधारित है, जिसमें द्रौपदी के अनुरोध पर भीम इसे सौगन्धिक पुष्प लाकर देते हैं।

जैसा प्रवेश हो सकता है, जैसे *कल्याणसौगन्धिक* आदि नाटकों में भीम का वेश धारण करने वाला नट (द्रौपदी का) थोड़ा प्रवेश दिखा देता है।

अब यह विषयान्तर रहने ही दिया जाए।

आहार्य (वेशभूषा) से तो कपिश्रेष्ठ (हनुमान्) और आंगिक आदि अभिनयों के द्वारा राम आदि पात्र – ये दोनों बातें एकत्र दिखाई दे रही हैं। यह कहाँ की नीति है? ॥८२॥

१३. अभिनये अनेकभूमिकासाङ्कर्येण अनार्यत्वम्
(नाट्याभिनय में अनेक भूमिकाओं को एक साथ मिलाने से अनार्यत्व का आक्षेप)

रूपकनिरूपणे पुनः अनुकार्यसाङ्कर्यम् अनार्यमर्यादापर्यायताम् अरार्यते[७०]। अत एवोक्तं घण्टा-कविना –

स्वादयन् रसमनेकसंस्कृतप्राकृतैरकृतपात्रसङ्करैः।
भावशुद्धिविहितैर्मुदं जनो नाटकैरिव बभार भोजनैः ॥[७१]

रूपक के निरूपण में अनुकार्य का सांकर्य (एक पात्र द्वारा दो या अधिक पात्रों का एक साथ अभिनय करना) अनार्यों की मर्यादा का पर्याय कहा गया है। जैसा कि घण्टाकवि (माघ) ने कहा है –

भाव की शुद्धि से युक्त अनेक संस्कृत और प्राकृत पात्रों (नाटक के पात्रों, भोजन के बर्तनों) का संकर किए बिना रस का आस्वाद करते हुए लोगों ने भोजन से उसी प्रकार आनन्द पाया, जैसा नाटक से पाया जाता है।

१४. अनेकभूमिकाग्रहणं नृत्यं नृत्तं वेति पूर्वपक्षस्य खण्डनम्
(अनेक भूमिकाएं एक नट द्वारा करने पर इसे नृत्य या नृत्त कहा जा सकता है – इस पूर्वपक्ष का खण्डन)

अथ साम्प्रतमिदं नृत्यं नृत्तं वा स्यात्। एतदपि न। उभयत्रापि सामान्याभिनयस्य एव[७२] योगः न कथञ्चिदपि पुनराहार्यस्य इति। अत्र खलु रामादिभावनटने अयं हनूमद्वेषोऽनुषक्त एव। न च इह अस्य समासञ्जनमुपपद्यते।

नन्विह रामादिवृत्तान्तोऽप्यभिनेतव्य[७३] इति चेत्। काममभिनीयताम्[७४]। किन्त्विदमविरोधेन विधातव्यमिति[७५] ब्रूमः। कथम् अविरोध इति चेत् रामभावमनङ्गीकृत्य तद्विधानादिप्रसञ्जनात्। यथा

---

[७०] पाठ चिन्त्य।

[७१] *शिशुपालवध* १४.५०।

[७२] सामान्याभिनयस्य एव – P

[७३] ननु इह रामादिवृत्तान्तोपि अभिनेतव्य – P

[७४] काममभिनीयताम् – P

[७५] किंतु इदम् अविरोधेन विधातव्यम् इति – P

लङ्कां प्राप्तोऽस्मि इत्यत्र लङ्काभाववैधुर्येण हस्तमात्रनिबन्धनं नगरप्रदर्शनम्। रामादिभावाङ्गीकरणे पुनः प्रधानतया गृहीतो हनूमद्भावः अखण्डितः स्यात्। वेषो हि अभिनयवर्गे प्रधानम्। अत आह –

नानावस्थाः प्रकृतयः पूर्वं नेपथ्यसूचिताः।
अङ्गादिभिरभिव्यक्तिमुपगच्छन्त्ययत्नतः ॥[७६] इति ॥

अब इस (हनुमान् के अभिनय के साथ राम आदि अन्य पात्रों का एक साथ अभिनय) को या तो नृत्य माना जा सकता है या नृत्त। इन दोनों में भी सामान्याभिनय का ही योग होता है, आहार्य अभिनय का तो कहीं भी नहीं। यहाँ तो राम आदि के भावों का अभिनय हनुमान् का अभिनय करने वाले नट के साथ यह हनुमान् का वेश तो लगा ही हुआ है। इसका किसी तरह भी सामञ्जस्य नहीं बैठ रहा।

यदि यह कहते हो कि हनुमान् के इस सीतान्वेषण के प्रसंग में राम आदि के वृत्तान्तों का भी तो अभिनय साथ में करना ही है, तो ठीक है, भले कराइए, परन्तु यह बिना किसी विरोध के कराना चाहिए – यही हमारा कहना है। यदि पूछो कि अविरोध कैसे होगा तो हमारा उत्तर है कि हनुमान् का पात्र राम आदि के भाव को स्वीकार न करे, उनका उल्लेख मात्र करके यह किया जा सकता है। जैसे कि हनुमान् जब यह कहते हैं कि "मैं अब लंका पहुँच गया" – तो लंका के भाव में पहुँचे बिना केवल हाथ के संकेत भर से नगर को प्रदर्शित किया जा सकता है। यदि हनुमान् के अभिनय के समय वही नट रामादि के भाव को स्वीकार कर लेता है, तो उस समय उसका हनुमान् के भाव में होना भी अखण्डित ही बना रहेगा (अतः विरोध होगा), क्योंकि अभिनय वर्ग में वेश ही प्रधान है। इसीलिए कहा है –

विविध अवस्थाओं वाली प्रकृतियों (नाटक के पात्रों) को पहले नेपथ्य (वेशभूषा) द्वारा सूचित किया जाएगा। फिर उनकी आंगिक आदि द्वारा अभिव्यक्ति होती है।

टिप्पणी – नटाङ्कुशकार की आपत्ति सैद्धान्तिक तथा मूलभूत प्रश्न को उपस्थापित करने वाली है। जिस क्रिया का समावेश चाक्यार या नट हनुमान् के अभिनय में कर रहे हैं वह नृत्य है, नृत्त है, नाट्य है? चाक्यार स्वयं उसे क्रियानृत्य कहता है अतः वह नाट्य नृत्य नहीं है। नृत्य के अनुकार्य में तदाकारापत्ति नहीं होती या पात्र के भाव अभिनेता अपने को उससे अभिन्न होकर प्रस्तुत नहीं करता। हनुमान् का अभिनय करने वाले नट द्वारा राम के वृत्तान्त की सूचना दी जा सकती है, उस सूचना के साथ राम के पात्र से सम्बद्ध आंगिक अभिनय भी वह करके दिखा सकता है, परन्तु यह राम के पात्र के साथ भेदबुद्धिपूर्वक होगा, अभेदबुद्धिपूर्वक नहीं।

१५. पृथक् पृथक् भूमिकानां कृते पृथक् पृथगेव नटाः स्युरिति सिद्धान्तस्य प्रतिपादनम् (अलग-अलग भूमिकाओं के लिए अलग-अलग ही अभिनेता होंगे – इस सिद्धान्त का प्रतिपादन)

तद्भावनेनैव तच्चरिते प्रयोक्तव्ये का प्रतिपत्तिरिति[७७] चेत्, भद्रमुख, यद्येवमस्ति वाञ्छा तर्हि

---

[७६] *नाट्यशास्त्र* २१.२, प्रोफेसर उन्नि ने इसका सन्दर्भ २१.४ दिया है। वडोदरा संस्करण में "नेपथ्यसूचिताः" के स्थान पर "नेपथ्यसाधिताः" पाठ है।

[७७] प्रतिपत्तिः इति – P

तत्तदुचितवेषादिपरिग्रहेण पृथक् पृथक् पात्रप्रवेशः क्रियताम्। भावपरिग्रहस्य अनुकरणत्वात्, अनुकरणे वेषस्य प्रथमाङ्गत्वात्, एकेनैव पात्रेण सर्वेषामप्यनुकरणं करणीयमिति[७८] किं मन्यसे? तर्हि किमित्ययं हनूमत्प्रवेशे एव तावदकारि? प्रथमं पर्णशालाङ्कोपक्रमे[७९] प्रविष्टेन तेन लक्ष्मणपात्रेणैव कपीन्द्रानुकृतेः एवं शक्यत्वप्रसङ्गात्। तत्र तत्र पात्रान्तरप्रवेशकथनमपि अकिञ्चित्करं स्यात्। पात्रैस्त्रिचतुरैरङ्क[८०] इति आप्तभाषितमपि अविवक्षितार्थकोटिमाविशेत्।[८१]

यदि पूछो कि उसी एक पात्र के भाव में रहकर उसके चरित्र का प्रयोग करने में क्या युक्ति है, तो हमारा कहना है कि भद्रमुख, यदि एक ही प्रसंग में अनेक पात्रों के भाव दिखाने ही हैं, तो उनके समुचित वेश आदि को धारण करवाकर अलग-अलग नटों को उन पात्रों के रूप में प्रवेश करवाकर दिखाओ। भाव का स्वीकार अनुकरणरूप होता है। अनुकरण में वेश प्राथमिक होता है। एक ही पात्र द्वारा सबका अनुकरण करना है – यह तुमने मान लिया, तो फिर यह केवल हनुमान् के प्रवेश के अवसर पर ही क्यों करवाते हो, इसके पूर्व पर्णशालांक जब आरम्भ होता है, उसमें लक्ष्मण का पात्र जैसे ही प्रवेश करता है, उसी पात्र से हनुमान् की भी अनुकृति कराई जा सकती है। ऐसी स्थिति में अन्य पात्रों के प्रवेश की सूचना देने का भी कोई अर्थ नहीं रह जाएगा। नाटक के प्रत्येक अंक में तीन या चार पात्र (मंच पर) रहते हैं – यह आप्तभाषित (भरतमुनि जैसे नाट्याचार्यों का कथन) भी अविवक्षितार्थ (बेमतलब) की कोटि में जा पहुँचेगा।

ननु कथितप्रवेशानां प्रवेशो विधातव्यः न अन्येषाम्, सत्यम्। किंतु केषां प्रवेशकथनम् इति चिन्तनीयम्, इह अनुकरणार्थे प्रवेशे अननुकार्याणां प्रवेशो न कार्यः इति अनुकार्याणामेव प्रवेशकथनं भवति। तदानीमकथितप्रवेशानां न अनुकार्यत्वं प्राप्तम्। इह च हनूमतः एव प्रवेशः अकथि, न रामादेः इति कस्तदनुकरणनिर्बन्धः[८२]।

यहाँ कहा जा सकता है कि जिनका प्रवेश बताया गया है, उन्हीं का प्रवेश मंच पर कराया जाएगा, दूसरों का नहीं। सत्य है। परन्तु किसके प्रवेश का कथन होगा – यह सोचने की बात है। अनुकरण के लिए किसी पात्र के प्रवेश के समय अननुकार्य पात्रों का प्रवेश नहीं होना चाहिए। ऐसे अननुकार्य पात्र का अनुकार्यत्व यहाँ आ पड़ा। यहाँ हनुमान् का ही प्रवेश निर्दिष्ट है, फिर राम आदि के अनुकरण का आग्रह क्यों?

१६. अनेकभूमिकाग्रहणे अनुकर्तृत्वापत्तिः
(अनेक भूमिकाएं करने पर अनुकर्ता कौन होगा – यह आपत्ति)

अपि च अत्र[८३] किं नटो रामादिकम् अनुकरोति[८४], हनूमान् वा? न नटः, तस्य हनूमदनुकरणव्यापृतत्वे-

---

[७८] सर्वेषामपि अनुकरणं करणीयम् इति – P

[७९] *आश्चर्यचूड़ामणि* का पहला अंक।

[८०] *दशरूपक* ३.३७।

[८१] अविवक्षितार्थकोटिम् आविशेत् – P

[८२] कः तदनुकरणनिर्बन्धः – P

[८३] अपि च अत्र – P

[८४] रामादिकम् अनुकरोति – P

नान्यवैमुख्यात्[८५]। हनूमाननुकरोति इत्यत्र न किञ्चिदपि कारणं पश्यामः। सत्यपि वा निमित्ते निजवेषमपास्य रामादिवेषपरिग्रहे युक्तः स्यात्। यथा हनूमत्यनुचिकीर्षिते नटस्य स्वकीयवेषपरित्यागेन कपिसमुचिताहार्यसमुपादानाम्।

और फिर यहाँ नट राम आदि का अनुकरण कर रहा है या हनुमान् अनुकरण कर रहा है नट तो अनुकरण नहीं करेगा, वह हनुमान् के अनुकरण में लगा हुआ है, अन्य पात्र के अनुकरण से वह विमुख रहेगा। हनुमान् अनुकरण कर रहा है – इसका भी कोई कारण हम नहीं देख रहे। यदि कोई कारण हो भी, तो हनुमान् अपना वेश त्यागकर रामादि का वेश धारण करके यह अनुकरण करे – यह उचित होगा, ठीक उसी तरह जैसे हनुमान् का भाव धरने की इच्छा वाला नट अपना (सांसारिक) वेश त्यागकर कपिसमुचित आहार्य को धारण करता है।

ननु यद्येवं नाटके कथ्यमानानां सर्वेषामेव वेषपरिग्रहेण पात्रप्रवेशः कर्तव्यः स्यात्, मैनाक-नागकन्यासुरतादीनाम्।

उच्यते – अयमपि प्रसङ्गः तवैव शिरसि पतति। भवता हि निखिलानामपि अनुकार्यत्वम् अभ्युपगम्यते। अभिहितपरपर्यालोचनायां तु न वयम् एवम् अनुयुज्येमहि।

(पूर्वपक्षी प्रश्न करता है) – यदि ऐसी बात है, तो नाटक में जिस-जिसका उल्लेख है, उन सभी के मैनाक पर्वत, नागकन्या आदि पात्रों को वेश धारण करवाकर प्रवेश करवाना पड़ेगा।

उत्तरपक्षी इसके उत्तर में कहता है – यह प्रसंग भी तुम्हारे ही सिर आ पड़ा (तुमने स्वयं यह बला मोल ली है)। तुमने ही सारे पात्रों को अनुकार्य बनाना स्वीकार किया है। नाटक में जो कहा गया है और जो नहीं कहा गया, दोनों पर विचार करने पर हम तो इसकी अनुमति नहीं देते।

१७. अनुकार्य-परामृश्य-विवेकः
(अनुकार्य और परामृश्य में अन्तर)

इह खलु नाट्यमार्गे द्विविधः अर्थः[८६], अनुकार्यः परामृश्यश्चेति[८७]। तत्र उक्तप्रवेशोऽनुकार्यः[८८], अनुक्तप्रवेशः परामृश्यः। उभावपि प्रदेशभेदान्न[८९] व्यवस्थितौ। अनुकार्यः क्वचित् परामृश्यो भवति। असौ अन्यो[९०]ऽपि। इह अङ्गुलीयाङ्के हनूमाननुकार्यः[९१], अत्र अस्य प्रवेशकथनात्। "हत्वा बालिनमि"[९२]-त्यादौ बालिप्रभृतिभिरिव

---

[८५] व्यापृतत्वेन अन्यवैमुख्यात् – P

[८६] द्विविधः अर्थः – P

[८७] परामृश्यश्च इति – P

[८८] उक्तप्रवेशः अनुकार्यः – P

[८९] उभौ अपि प्रदेशभेदात् न – P

[९०] असौ अन्यः – P

[९१] हनूमाननुकार्यः – P

[९२] हत्वा बालिनमाहवे गिरिशतैराबध्य सेतुं श्रमाल्लङ्कामेत्य सहायबन्धुसहितं कृत्वा हतं रावणम्।
यामद्य प्रतिपालयामि वचनप्रामाण्यतो मारुतेः संवासादपि नाम सा नृपसुता न स्यादवर्णास्पदम्।। – *आ॰चू॰* ७.११

परामृश्यः, प्रवेशाकथनात्। रामादिरत्र[९३] परामृश्यः, उक्तादेव हेतोः सप्तमाङ्कादौ अनुकार्यः।

किमिदमनुकरणं[९४] परामर्शो वा? स्वभावो हनूमदादित्वापत्तिरनुकरणम्[९५], नेपथ्यादि-विशेषशालिनि नटे "हनूमानयम्", "रामोऽयम्" इत्यादि प्रेक्षकाणां प्रतिपत्तेः। बोधः परामर्शः। ततोऽनुकार्येणावबुद्ध्यमानो[९६] भवन् परामृश्यो द्विधा[९७]– प्रत्यक्षः परोक्षश्चेति। अनुकार्यस्य चक्षोरादिविषयः प्रत्यक्षः। परः स्मरणविषयः उभयविधेयं सुखदुःखाद्यवस्थाहेतुः, तत्परामर्शोऽस्य नयनविकासादिभावात्। तत्र प्रत्यक्षपरामृश्यो यथा – "एषां पल्लवमंशुकानि" इत्यादि। अत्र तादृशास्तरवः[९८] हनूमतः प्रत्यक्षाः सन्तो विस्मयं[९९] वितन्वन्ति। परोक्षपरामृश्यो यथा "वृथा मया समुद्रो लङ्घित" इत्यादि। यत्र पुनः अनुकार्यः स्वकीयं परकीयं वा वृत्तान्तं वृत्तं वर्तिष्यमाणं वाऽन्यस्मै निवेदयति, तत्र परोक्षपरामृश्ये तत्परामर्शनिमित्तो नास्य हर्षादिविकारः स्यात्, तन्निवेदनतत्परत्वात्। अत एव हि तत्र वाचिकप्राधान्यं युक्तम्। यथा "ततः तदुपदेशात् लङ्घितो महार्णवः प्राप्तमिदमुद्यानम्" इत्यादि, "ततः सुधीरोऽपि देवो रामः सागर इव कारणबलादधीरतां प्राप्तः इत्यादि।"

"रक्षोवधाद्विरतकर्म विसृज्य चापम्"[१००] इत्यादि च।

यहाँ नाट्यमार्ग में दो प्रकार के अर्थ होते हैं – एक तो अनुकार्य, दूसरा परामृश्य। इनमें जिसका प्रवेश बता दिया गया है वह अनुकार्य है, और जिसका प्रवेश अभी नहीं बताया है, वह परामृश्य है। दोनों अलग-अलग स्थल पर व्यवस्थित हैं। अनुकार्य कभी-कभी परामृश्य भी बनता है। वह अन्य भी हो जाता है। (इस *आश्चर्यचूड़ामणि* नाटक के) अंगुलीयकांक में हनुमान् अनुकार्य है, क्योंकि इस अंक में उनका प्रवेश कहा गया है। "हत्वा बालिनम्" इत्यादि पद्य में वे बालि आदि के समान परामृश्य ही हैं, क्योंकि वहाँ उनका प्रवेश कहा नहीं गया। इसी प्रकार उक्त कारण से ही राम यहाँ (अनुकार्य नहीं) परामृश्य हैं। सप्तम अंक के आरम्भ में वे अनुकार्य हैं।

यह अनुकरण और परामर्श है क्या? नट का अपना स्वभाव हनुमान् के रूप में अपने को दिखाना है, यही उसके लिए अनुकरण है। जब वह विशेष नेपथ्य आदि धारण करके मंच पर आता है, तो प्रेक्षकों को यह "हनुमान है", "यह राम है" इस प्रकार की प्रतीति होती है। परामर्श का अर्थ है बोध। (परामृश्य मंच पर दृश्य नहीं रहता) वह अनुकार्य द्वारा बूझा जाता है। ऐसा परामृश्य दो प्रकार का होता है – प्रत्यक्ष और

---

[९३] रामादिः अत्र – P

[९४] किमिदम् अनुकरणं – P

[९५] हनूमदादित्वापत्तिरनुकरणम् – P

[९६] ततोऽनुकार्येणावबुद्ध्यमानः – P

[९७] परामृश्यः द्विधा – P

[९८] तादृशाः तरवः – P

[९९] सन्तः विस्मयं – P

[१००] रक्षोवधाद्विरतकर्मविसृज्य चापं गोधाङ्गुलित्रपदवीषु धृतव्रतेन।
रेखातपत्रकलशाङ्कितलेन रामो वेणीं करेण तव मोक्ष्यति देवि देवः।। – *आ॰चू॰* ६.२१

परोक्ष। अनुकार्य द्वारा नेत्र आदि का विषय बनने वाला परामृश्य प्रत्यक्ष है। परोक्ष उसकी स्मृति का विषय होता है। प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों ही प्रकार का परामृश्य सुख, दुःख आदि का कारण बनता है। उसका विचार करने पर नट के नयनविकास आदि भाव उत्पन्न होते हैं। प्रत्यक्ष परामृश्य का उदाहरण है – "एषां पल्लवमंशुकानि" इत्यादि। इस पद्य में वर्णित वृक्ष हनुमान् के लिए प्रत्यक्ष होते हुए विस्मय उत्पन्न करते हैं। परोक्ष परामृश्य का उदाहरण है – "वृथा मया समुद्रो लङ्घित" मैंने व्यर्थ ही समुद्र लाँघा इत्यादि संवाद। और जहाँ अनुकार्य अपने या पराए, हो चुके अथवा होने वाले, वृत्तान्त को अन्य पात्र के लिए बताता है, वहाँ परोक्ष परामृश्य होता है, उस परामृश्य के कारण नट में हर्ष आदि विकार नहीं होंगे, उन्हें अभिनय के द्वारा नहीं शब्द से बताया जा रहा है। इसलिए ऐसे स्थलों पर वाचिक की प्रधानता उचित है। उदाहरण के लिए "ततः तदुपदेशात् लङ्घितो महार्णवः प्राप्तमिदमुद्यानम् (फिर उनके उपदेश से महासागर लाँघा, और इस उद्यान में आ गया)" – इत्यादि हनुमान् का संवाद। अथवा – "ततः सुधीरोऽपि देवो रामः सागर इव कारणबलादधीरतां प्राप्तः (तब धैर्यशाली होते हुए भी देव राम सागर के समान कारणवश अधीर हो बैठे)" इत्यादि संवाद। या "रक्षोवधाद्विरतकर्म विसृज्य चापम् (राक्षसों का वध करने के कारण कर्म से विरत होकर धनुष को विसर्जित करके)" इत्यादि संवाद।

"ननु परामृश्यस्यापि सुखदुःखाद्यवस्था प्रदर्शयितव्या", अन्यथा "मरकतरुचो" "माद्यद्भृङ्गाः", इत्यादौ रामस्य वियोगवैक्लव्यनटनम् अनुपादेयं स्यात्।

हन्त! महदिदमनिष्टमापतितम्।[१०१] भवतु, एवम् अनुकार्यपरामृश्ययोः उभयोरपि अवस्थाप्रदर्शने कः अनयोः भेदः इति वक्तव्यम्। प्रवेशाप्रवेशौ इति चेत्, किं तत्र निमित्तम्। वेषस्य भावाभावौ इति चेत्, तत्रापि किं निमित्तम् इति पृच्छामः। तत्र अवश्यं साक्षाद् द्रष्टुमिष्टस्य वेषः अन्यस्य न वेषः इति वक्तुं युक्तम्। तदानीं दृष्टस्य एव अवस्था सामाजिकानाम् अनुभवगोचरः, न अदृष्टस्य इति किं तत् प्रकटनप्रयासेन।

पूर्वपक्षी कहता है कि परामृश्य की भी सुख–दुःख आदि अवस्था का अभिनय होना चाहिए, नहीं तो "मरकतरुचो", "माद्यद्भृङ्गाः", इत्यादि संवाद में राम के वियोग की विकलता का अभिनटन अनुपादेय हो जाएगा।

उत्तरपक्षी इस पर व्यंग्य में कटाक्ष करता हुआ कहता है – ओह, यह तो बड़ा भारी अनिष्ट आ पड़ा। ठीक है, फिर अनुकार्य और परामृश्य इन दोनों की अवस्थाओं का अभिनय द्वारा प्रदर्शन जब करना है, तो इन दोनों के अवस्था प्रदर्शन में क्या भेद है – यह बताना पड़ेगा। यदि कहो कि प्रवेश और अप्रवेश का भेद है (एक प्रविष्ट है, दूसरा नहीं), तो प्रश्न आता है कि इसमें कारण क्या है। यदि कहो कि वेश का धारण किया जाना या न धारण किया जाना इसमें कारण है, तो फिर हम पूछेंगे कि उसमें भी क्या कारण है। तब उत्तर यही होगा कि जिसे साक्षात् देखना अभीष्ट है, उसी का वेश होना चाहिए, जिसे साक्षात् देखना अभीष्ट नहीं है, उसका वेश नहीं। इस स्थिति में साक्षात् देखे गए पात्र की ही अवस्था सामाजिकों या सहृदय प्रेक्षकों को अनुभव में गोचर होगी, जिसे देखा नहीं है, उसकी नहीं। तब उस अदृष्ट पात्र को प्रकट करने का प्रयास क्यों?

---

[१०१] महत् इदम् अनिष्टम् आपतितम् – P

ननु दृश्या भवन्ति अनुकार्य-परामृश्याः[१०२], सर्पवराहमीनकूर्माद्यभिनये हि सर्पोऽयम् इत्यादि साक्षाद् अवबोधः सामाजिकानां सम्पद्यते।

सत्यम्। स तु तदभिनयकाले एव, न तदवस्थापरामर्शकाले, तदानीं सर्पादेरभावात्। न खलु सर्पाभिनयनिवृत्तौ सर्पप्रतीतिः भवितुम् अर्हति। अन्यथा अभिनयाभावेऽपि अभिनेयार्थप्रतीति इति अभिनयस्य वैय्यर्थ्यम् आपतेत्।

हस्ताभिनयदृष्टार्थसंस्कारस्तु वेषाभिनयेन परिदृश्यमानानुकार्यप्रतीत्या प्रतिक्षिप्यते। हनूमद्भावेन अवस्थितौ हि रामम् अभिनीय ततः प्रकाश्यमानवियोगवैधुर्याद्यवस्थादर्शनसमये न स्वल्पापि रामस्मृतिरस्ति, तदवस्थाव्यतिरेकेण तदा हनूमत एव प्रतीयमानत्वात्। अवस्थावति असति अवस्थां दिदर्शयिषुः अति पण्डितः कस्माद् विनष्टस्य रत्नस्य कान्तिं न दर्शयति? परामृश्याभिनयं कृतम्। अत्यक्त्वा एव तदवस्था प्रकटयितुं शक्यते चेद् विजयते भवान्।

पूर्वपक्षी प्रश्न करता है – जिनका बाद में परामर्श होता है, ऐसे पात्र भी दृश्य तो बनते ही हैं, जैसे कि सर्प, वराह, मीन, कूर्म आदि के अभिनय के समय यह सर्प है – ऐसा बोध सामाजिकों को होता है।

उत्तरपक्षी समाधान करता है – सत्य है। परन्तु यह बोध अभिनय काल में ही होता है, उसकी अवस्था के परामर्श के काल में नहीं। क्योंकि परामर्श काल में सर्प आदि नहीं रह जाते। सर्प का अभिनय जब समाप्त हो जाए, तो सर्प की प्रतीति होती रहे, ऐसा नहीं होता। नहीं तो अभिनय के अभाव में भी अभिनेयार्थ की प्रतीति होती रहेगी और तब तो अभिनय करना ही अनावश्यक हो जाएगा।

हस्ताभिनय द्वारा देखे गए अर्थ (राम आदि परामृश्य) का संस्कार (हनुमान् के पात्र के) वेशाभिनय या आहार्याभिनय द्वारा परिदृश्यमान अनुकार्य (हनुमान्) की प्रतीति से प्रतिक्षिप्त या निरस्त हो जाता है। हनुमान् के भाव में अवस्थित होते हुए राम का अभिनय करके इस अभिनय से प्रकट होने वाली वियोग की विकलता आदि अवस्थाओं के प्रदर्शन के समय थोड़ी सी भी राम की स्मृति नहीं है, क्योंकि उस पात्र में राम की उस अवस्था के बिना हनुमान् की ही प्रतीति होती रहती है। जिसकी अवस्था दिखाना है, वह है नहीं, फिर भी उसकी अवस्था दिखाने की इच्छा वाला अतिपण्डित (नट) खोए हुए रत्न की कान्ति क्यों नहीं दिखा देता? परामृश्य के अभिनय में अपना वेश छोड़े बिना अन्य पात्र की अवस्था यदि आप प्रकट कर सकते हैं, तो आपकी जय हो।

किं च परामृश्यानामवस्थाप्रकटने[१०३] तेषां नयनविकासमुखप्रसन्नतादिभिर्भवितव्यम्।[१०४] तद्धेतु-भूतपरामृश्यान्तरपरामर्शे तदभिनयाश्च भवितुम् अर्हन्ति। तदुभयमपि न संभवि, एषामनुकार्यादन्येषां[१०५] नयनाद्यभावाद्।

---

[१०२] अनुपरामृश्याः – P, अनुकार्यपरामृश्याः – R

[१०३] परामृश्यानाम् अवस्थाप्रकटने – P

[१०४] दिभिः भवितव्यम् – P

[१०५] एषाम् अनुकार्याद् अन्येषां – P

ननु किमत्र रामादीनां नयनादिकं नास्ति इत्युच्यते। अभिनये तर्जनी वा धनुश्शरौ वा रामः। न च तर्ज्जन्यादेः नयनमुखहस्ताद्यङ्गमस्ति।

ननु अस्ति रामाद्यभिनयकारिणो नयनादिकम्। अस्ति किं तेन। तत् खलु तस्य, न रामस्य।

रामाभिनयकारी रामो भवति इति चेत् किमनेन तदभिनयेन, अभिनयकारिणामेव[१०६] रामप्रतीतेः। रामाभिनयकाले तस्य रामत्वं भवति इति चेद्, अत्र वानरोचितवेषानुपपत्तिरित्युक्त-मेतत्। तदा रामत्वेऽपि[१०७] पूर्वकाले इव उत्तरकाले तदभावाद् अवस्थावदभावे अवस्थाप्रसङ्गः इत्येतदपि उक्तम्। अथ तर्ज्जन्यादिसंज्ञया अनुकार्यात् पृथग्भूतो रामः सूच्यते इति। तर्हि सुतराम् अप्रत्यक्षस्य रामस्य अवस्थां प्रत्यक्षयितुम् अयम् आग्रहः इति दत्तमुत्तरम्।

साथ ही परामृश्य राम की अवस्था को प्रकट करने के लिए आँखों का खिल उठना, मुख पर प्रसन्नता होना आदि अवस्थाएँ भी होनी चाहिए। इनके हेतुभूत तो अन्य परामृश्य (सीता आदि) होंगे, उनका भी परामर्श यहाँ करना पड़ेगा, तब उनके अभिनय हो पाएंगे। दोनों बातें तो एक साथ हो नहीं सकती, अनुकार्य हनुमान् में राम की आँखें नहीं हैं।

इस पर पूर्वपक्षी प्रश्न करता है – यह आप कैसे कहते हैं कि अनुकार्य में राम की आँखें नहीं हैं? अभिनय में तो तर्जनी या धनुष-बाण भी राम बन जाते हैं। तर्जनी के तो मुख और नयन आदि अंग होते नहीं।

उत्तरपक्षी कहता है – राम का अभिनय करने वाले के नयन आदि तो हैं। पूर्वपक्षी कहता है – हैं, तो इससे क्या हुआ, वे अंग उस नट के हैं, राम आदि पात्र के तो नहीं। यदि कहते हो कि राम का अभिनय करने वाला नट ही तो राम हो जाता है, तो हमारा (उत्तरपक्षी का) कहना है कि फिर हनुमान् के अभिनेता से उसका अभिनय कराने से क्या अर्थ, जो राम का अभिनय करने वाला नट है, उसी में राम की प्रतीति होगी। इसके उत्तर में पूर्वपक्षी कहता है – जब वह राम का अभिनय करता है, उसी समय उसमें राम की प्रतीति होगी, यहाँ तो हनुमान् का अभिनय करने वाला नट राम का अभिनय कर रहा है। उत्तर में उत्तरपक्षी कहता है – हमने कह ही दिया है कि हनुमान् का अभिनय करने वाले नट से राम का अभिनय कराने में उसके वानरोचित वेश की अनुपपत्ति (असंगति) है। और यह भी कहा है कि उस समय हनुमान् का पात्र रामत्व या राम के भाव को धारण करे भी, तो जैसे पहले उसमें रामत्व का अभाव था, वैसे ही बाद में भी अभाव रहेगा। इसलिए राम की अवस्था का अभिनय जैसे वह पहले नहीं कर सकता था, वैसे ही बाद में भी नहीं कर सकेगा। यदि यह कहो कि तर्जनी के संकेत से अनुकार्य हनुमान् से अलग राम को सूचित तो कर दिया। तब अप्रत्यक्ष राम की अवस्था को प्रत्यक्ष करने के लिए यह आग्रह मात्र है – यह उत्तर हम पहले दे ही चुके हैं।

ननु अनुकार्यः परामृश्यचरितमनुसंधत्ते[१०८], "रामः प्रावृषि वियोगव्यथाभिभूतोऽभूद्" इत्यादि। तत्र रामगताः एव ताः विरहावस्थाः केवलं तदभिनयं करोत्यनुकार्यः, ततः किं दूषणम्?

---

[१०६] तद् अभिनयेन, अभिनयकारिणाम् एव – P

[१०७] रामत्वे अपि – P

[१०८] परामृश्यचरितम् अनुसंधत्ते – P

हन्त भोः, कथमसकृदभिहितमपि[१०९] न जानीषे? अङ्ग, यदिदं परामृश्यगतविरहावस्थाभिनयनमनुकार्यः करोति, तत् किमङ्कान्तरे[११०] अनुकार्यभूतेन रामेण क्रियमाणस्वावियोगावस्थाभिनयेन समं वा न वा?

पूर्वपक्षी फिर सफाई देता हुआ कहता है कि अनुकार्य हनुमान् यहाँ "रामः प्रावृषि वियोगव्यथाभिभूतोऽभूद्" (राम वर्षा में वियोग की व्यथा से अभिभूत हो गए) इत्यादि कथनों द्वारा अपने परामृश्य राम के चरित का अनुसन्धान कर रहे हैं। तो यहाँ राम में होने वाली विरह की अवस्थाएँ तो परिचित हैं, हनुमान् का पात्र केवल उनका अभिनय कर रहा है, तो इसमें दोष क्या है?

उत्तर में उत्तरपक्षी कहता है – अरे बार-बार कहने पर भी तुम समझ क्यों नहीं रहे? अब यह जो परामृश्यगत विरहावस्था का अभिनय अनुकार्य करने लग गया, वह क्या अंक के भीतर अनुकार्यभूत राम द्वारा किया जा रहा अपनी स्ववियोगावस्था के अभिनय के समान है या नहीं?

न इति न। अत्रापि औत्सुक्यचिन्ताविषादादिनां निःश्वसितशून्यदृष्टित्वाद्यनुविद्धानां दर्शनात्। समं चेत् तद्वदत्रापि तासामवस्थानां[१११] प्रत्यक्षत्वं स्यात्, अनुकार्यावस्था हि प्रत्यक्षा। कार्यदर्शने भावानां प्रत्यक्षत्वम्। ततः हनूमति दृश्यमाना सा विरहावस्था हनूमद्गता एव स्यात्, हनूमत एव स्यात्, न रामसम्बन्धिनी। एकस्मिन् दृश्यमानावस्था अन्यस्य भवति इति महानयं मनोरथः।

समान नहीं है – यह तो कह नहीं सकते। जैसे वहाँ, वैसे ही यहाँ भी औत्सुक्य, चिन्ता, विषाद आदि संचारी भाव तथा निःश्वसित, शून्यदृष्टित्व आदि अनुभाव पिरोए हुए हैं। तो ये दोनों समान हैं, तो जैसे स्वयं अनुकार्यभूत राम द्वारा इन अवस्थाओं का अभिनय प्रत्यक्ष होता है, वैसे ही अनुकार्यभूत हनुमान् द्वारा इनका अभिनय होने पर भी इनका प्रत्यक्ष उसी तरह होगा। अनुकार्य की अवस्था प्रत्यक्ष हो रही है, अनुभावों को देखकर भावों या संचारी भावों का भी प्रत्यक्ष हो रहा है। तब हनुमान् में दिखाई देने वाली वह विरहावस्था हनुमान् से सम्बन्धित या उन्हीं की हो सकती है, न कि राम से सम्बन्धित। यह तो आपका महान् मनोरथ है कि एक में दिखाई देने वाली अवस्था अन्य की हो जाए।

१८. भावाभिनयेऽभिनेतुर्नियतत्वम्
(एक पात्र का ही भावाभिनय एक अभिनेता द्वारा किया जाना आवश्यक)

किञ्च भावाभिनये ये अभिनेतृसम्बन्धिन एव ते भावा भवेयुः। तथा हि भावाभिनयो भावकार्यप्रकटनम्। तत् पुनः मुखरागनयनविकारादिना भवति। यस्य खलु निःश्वासोच्छ्वासाधोमुखविचिन्तनाकाशवीक्षणादयो दृश्यन्ते, सः दुःखवान् इति गृह्यते नयनवदनप्रसादादिमान् हृष्ट इति, उद्वृत्तरक्तनेत्रवक्त्रसन्दष्टाधरत्वनिःश्वासकम्पिताङ्गतादियुक्तः क्रुद्धः इति च लोकानुसारेण। अपि च तत्र हनूमानेव दृश्यते आहार्यवैभवात्। तत्र दृश्यमानाः औत्सुक्यादयः तदीयाः इति किं दुर्ग्रहम्।

और फिर भावाभिनय में भाव अभिनेता से सम्बद्ध होने चाहिए। क्योंकि भावाभिनय का काम है भावों

---

[१०९] कथम् असकृद् अभिहितमपि – P

[११०] किम् अङ्कारन्तरे – P

[१११] तद्वद् अत्रापि तासाम् अवस्थानां – P

की अभिव्यक्ति। और वह मुखराग, नयनविकार आदि से होती है। जिसके निःश्वास, उच्छ्वास, मुख नीचा करके चिन्ता प्रकट करना, शून्य में ताकते रह जाना – ये सब दिखाई पड़े, वह दुःखी है यह माना जाता है, और जिसकी आँखें और मुख खिला लगे, वह हृष्ट माना जाता है। इसी प्रकार लोकानुसार आँखें चढाए हुए, लाल मुख और आँख वाला, दाँत से ओठ चबाने वाला, निःश्वास और काँपते अंग वाला व्यक्ति क्रुद्ध माना जाता है। इस पूरे प्रसंग में इन अवस्थाओं से युक्त अपने आहार्य के वैभव के कारण हनुमान् ही दिखाई पड़ रहे हैं। उनमें प्रत्यक्ष होने वाले औत्सुक्य आदि भाव उन्हीं के हैं – यह मानने में क्या कठिनाई है?

१९. अनुकार्यानुकर्त्रोर्विवेकः
(अनुकार्य तथा अनुकर्ता – पात्र और अभिनेता – में सम्बन्ध और अन्तर)

ननु एवं सति रामाभिनयकारी रामवान् स्यात्।

साधो, नायं परिभवः। रामवान् एव सः, न तु रामः। रामवत्वे च अस्य रामेण सम्बन्धो न समवायः यथा स्पृहादिना रामस्य मूर्तत्वात् धर्मित्वात् च। नापि संयोगः भिन्नकालत्वात्। किं तर्हि स्मर्तृस्मर्तव्यभावः, प्रत्यक्षे तु ग्राह्यग्राहकभावः।

ननु तर्हि परामृश्यगतसुखदुःखाद्यवस्था कथमभिनीयते[११२]।

भोः देवानां प्रिय, कथमपि नाभिनीयताम्[११३], अनपेक्षितत्वात्। अनुकार्यावस्था एव अत्र द्रष्टुमिष्यत इति भूरीन् वारानभिहितम्[११४]।

(पूर्वपक्षी कह सकता है) – यदि ऐसा हुआ, तो राम का अभिनय करने वाला राम से युक्त हो गया।

उत्तरपक्षी कहता है – हे साधो, यह हमारी हार नहीं है। राम से युक्त तो वह है ही, परन्तु साक्षात् राम नहीं है। राम से युक्त होने पर उसका राम के साथ सम्बन्ध तो बनता है, लेकिन समवाय या अभेद नहीं हो जाता। वह स्पृहा आदि द्वारा राम को मूर्त करता है और राम के धर्म से युक्त हो जाता है। इसे राम के साथ संयोग भी नहीं कह सकते, क्यों राम और इस नट का काल भिन्न-भिन्न है। तो फिर रामत्व से युक्त होने को कैसे परिभाषित किया जाएगा? इसे स्मर्तृस्मर्तव्यभाव कहा जा सकता है, हनुमान् का अभिनय करने वाला नट राम का स्मरण करता है, राम स्मर्तव्य हो जाते हैं। या प्रत्यक्ष बोध की दृष्टि से इसे ग्राह्य–ग्राहकभाव कहा जा सकता है (हनुमान् का अभिनय करने वाला ग्राहक है और राम ग्राह्य)।

पूर्वपक्षी प्रश्न करता है – यदि राम से युक्त होने की इस तरह की व्याख्या स्वीकार कर ली जाएगी, तो परामृश्य राम के भीतर की सुख–दुःखादि अवस्था का अभिनय कैसे होगा?

उत्तरपक्षी कहता है – अरे मूर्ख, अभिनय किसी भी तरह करना ही नहीं है। क्योंकि इस तरह के अभिनय की कोई अपेक्षा ही नहीं है। अनुकार्य की अवस्था ही यहाँ देखने के लिए अभीष्ट है – यह हमने कई बार कहा है।

---

[११२] कथम् अभिनीयते – P

[११३] न अभिनीयताम् – P

[११४] वारान् अभिहितम् – P

ननु "स्वर्गं शोकातिभारान्मम जनकसुते किं नु याता जनन्यः"[११५] इत्यादौ किं शोकादिपदानि परित्यागपदानि भवन्ति?

उच्यते – अत्र शोकस्य सङ्केतितहस्ताभिनयमात्रमेव कर्तव्यम्। न तु निःश्वासदैन्यास्रादि-कार्योऽभिनयः। तथा सति अनुकार्यगतस्य भावस्य विच्छेदः स्यात्। तथा हि रामस्य पाठ्यमिदम्। स तथा वितर्कवान् भवति। वितर्कः स्वतः व्यभिचारिभावः। शोकः स्थायी। न च तथात्वमनयोरत्र[११६] युज्यते, वितर्कपेक्षया शोकस्य अल्पकालवर्तित्वात्। श्लोके खलु आतृतीयपादपर्यन्तं वितर्कः द्वितीयपादैकदेशे शोकः। स्थायिना हि बहुकालवर्तिना भवितव्यम्। नापि अत्र वितर्कस्य स्थायित्वं कल्पनीयं, व्यभिचारित्वप्रसिद्धेः। तत्र चोक्तम्[११७]

निर्वेदादिरताद्भूप्याद्, अस्थायी स्वदते कथम्।[११८] इति।

न चापि अनयोः कारणकार्यभावः, व्यधिकरणत्वात्। रामगतो वितर्कः जननीगतः शोकः। समानाधिकरणत्वेऽपि अनयोः विरोधः एव। अनर्थनिश्चयोत्थो हि शोकः। वितर्कः सन्देहरूपः। अतः अनुकार्यभूतरामगतवितर्कभावस्य प्राधान्यात्। न च अनेन शोकस्य बाद्ध्यत्वं युक्तम्, वितर्कैककोटिं जननीस्वर्गयानं प्रति हेतुत्वात्। तस्मादस्य[११९] संज्ञामात्रमेव कर्तव्यं, न निःश्वासादिकमिति[१२०] स्थितम्। एवं "भयपरवशे दत्तापाङ्गा महेन्द्रपरिग्रहे"[१२१] इत्यादौ परामृश्यगतभयादिषु द्रष्टव्यम्।

पूर्वपक्षी फिर आक्षेप करता है – "स्वर्गं शोकातिभारान्मम जनकसुते किं नु याता जनन्यः (हे जनकसुते, शोक के अतिरेक के कारण कहीं मेरी माताएँ स्वर्ग तो नहीं सिधार गईं)" इत्यादि कथनों में शोक आदि शब्द आए हैं, क्या वे छोड़े जा सकते हैं?

उत्तर देते हैं – यहाँ शोक का संकेतित हस्ताभिनय मात्र करना चाहिए, निःश्वास, दैन्य अश्रु आदि अनुभावों के साथ राम का अभिनय नहीं करने लग जाना चाहिए। यदि हनुमान् का अभिनय करने वाला नट यह सब करने लग जाएगा, तो अनुकार्य में स्थित भाव का विच्छेद ही हो जाएगा। क्योंकि 'स्वर्गं

---

[११५] आक्रान्ताः किन्नु बालो भरत इति परैरुत्तराः कोसला मे
स्वर्गं शोकातिभारान्मम जनकसुते किन्नु याता जनन्यः।
रक्षोभिश्छिन्नमङ्गैः खरवधरभसाद् वर्तते किन्नु माया
वामो वामाक्षि बाहुः स्फुरति तव शिखाबन्धनस्यैकबन्धुः।। – आ॰चू॰ ३.२

[११६] तथात्वम् अनयोः अत्र – P

[११७] तत्र चोक्तम् – P

[११८] दशरूपक ४.३६।

[११९] तस्माद् अस्य – P

[१२०] निःश्वासादिकम् इति – P

[१२१] मरकततटे मन्दाकिन्याः मदङ्गनिषादिनी
कनकनलिनोद्गन्धीन् स्वर्गानिलान् प्रतिगृह्णती।
भयपरवशे दत्तापाङ्गा महेन्द्रपरिग्रहे
मनुजमवधूयैषा कामं मया सह रंस्यते।। – आ॰चू॰ ३.२६

शोकातिभारान्मम जनकसुते किं नु याता जनन्यः' (हे जनकसुते, शोक के अतिरेक के कारण कहीं मेरी माताएँ स्वर्ग तो नहीं सिधार गईं)" यह राम का पाठ्य या संवाद है। राम इस तरह का वितर्क कर रहे हैं। वितर्क अपने आप में एक व्यभिचारी भाव है। शोक स्थायी भाव है। इन दोनों का व्यभिचारी भाव और स्थायी भाव के रूप में अभिनय करने लग जाना यहाँ संगत नहीं होगा, क्योंकि यहाँ वितर्क की अपेक्षा शोक अल्पकालवर्ती है। "स्वर्गं शोकातिभारान्मम ..." इस श्लोक में तीसरे चरण तक वितर्क है, द्वितीय चरण के एक अंश में शोक है। स्थायी भाव को (अल्पकालिक न होकर) चिरकालिक होना चाहिए। यहाँ वितर्क को स्थायी भाव मान लें, यह भी नहीं हो सकता, क्योंकि वह व्यभिचारी भाव के रूप में प्रसिद्ध है। जैसा कि कहा ही है – "निर्वेदादितादृरूप्याद्, अस्थायी स्वदते कथम्"[१२२] – अर्थात् "निर्वेद आदि व्यभिचारी भावों के साथ तादृरूप्य (एकाकारिता) नहीं हो सकता", इसलिए वे स्थायी की तरह आस्वाद नहीं दे सकते।

इन दोनों (वितर्क और शोक) का कारण–कार्यभाव भी सम्भव नहीं है, क्योंकि उनके आधार भिन्न-भिन्न हैं। वितर्क राम के मन में है, शोक जननी के मन में। यदि इन दोनों का समानाधिकरण या एक आधार मान भी लिया जाए (कि वितर्क और शोक दोनों ही राम के भीतर हैं), तब भी दोनों में विरोध तो है ही। शोक किसी अनर्थ की नित्यता से जन्म लेता है। वितर्क सन्देहरूप होता है। यहाँ अनुकार्यभूत राम के भीतर वितर्क भाव की प्रधानता है। इससे शोक बाध्य हो जाएगा – यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वितर्क की एक कोटि में माता के स्वर्ग सिधार जाने की सम्भावना है। इसलिए यही निर्णय हुआ कि यहाँ शोक का संकेतमात्र करना चाहिए, निःश्वास आदि अनुभावों का अभिनय नहीं। यही स्थिति "भयपरवशे दत्तापाङ्गा महेन्द्रपरिग्रहे" इत्यादि संवादों में परामृश्य में स्थित भय आदि में भी समझनी चाहिए।

ननु एवं सर्पाद्यभिनये हस्ताभिनयमात्रं स्यात्, न नयनादिविकारः, कस्तर्हि विरोधः?

ननु अस्ति विरोधः। हस्ताभिनयो हि मुखरागादिसहितः कर्तव्यः। तथा हि सर्पाभिनये कुञ्चिताखिलाग्राङ्गुलिना हस्तेन सह दृष्टिविशेषजिह्वाचलनफुल्लाकाराः क्रियन्ते। तादृशः हस्तः सर्पास्याकृतिः जिह्वाचलनादिकं स्वभावचेष्टा तादृशी दृष्टिः।

उच्यते – सर्पस्य दृष्टिः जिह्वा च असर्पे इति युक्तमिदम्। हनूमति सर्प इति कथं युक्तम् इति चेत् न, हस्तमात्रेण अभिनयस्य नाट्यन्यायसिद्धत्वात्। हस्ताभिनयो हि चित्राभिनयपर्यायो मनोवृत्तिस्थानीयः क्रियते। अनुकार्यमनोवृत्तिः सामाजिकानां साक्षाद् अविषयः तर्हि नेत्राद्यभिनयोऽपि युक्तः इति चेत् न, हनूमद्भावखण्डनप्रसङ्गाद् इत्युक्तम्।

ननु

"सर्वे हस्तप्रचारास्तु प्रयोगेषु तथाविधि।
नेत्रभ्रूमुखरागाद्यैः कर्तव्या रञ्जिता बुधैः॥"[१२३]

---

[१२२] *दशरूपक*, ४.३६।

[१२३] *नाट्यशास्त्र* ९.१७१, प्रोफेसर उन्नि के अनुसार ९.१६३, बडोदरा संस्करण में इसका पाठ निम्न है –
सर्वे हस्तप्रचाराश्च प्रयोगेषु यथाविधि।
नेत्रभ्रूमुखरागैश्च कर्तव्या व्यञ्जिता बुधैः।।

इत्युक्तमस्ति। अस्य पुनरयमर्थः। नेत्रभ्रूमुखरागाद्यैः अनुकार्यसंबन्धिभिः रञ्जिता अविरुद्धाः हस्तप्रचाराः कर्तव्याः इति रञ्जितशब्दो अविरुद्धवचनः। नेत्रभूमुखरागादयो अनुकार्यस्य एव यथाविधि इत्युक्तेः। तस्य खलु नेत्रादिविकाराः अभिनयरूपेण उक्ताः इति। एवम्

अन्ये चाप्यर्थसंयुक्ता ये दृष्टाः लौकिकाः कराः।
छन्दतस्तेऽभिनेतव्याः नानाभावविचेष्टितैः॥[१२४]

इत्यत्र,

"नृत्ते चाभिनये चापि, हस्तैरेतानि नित्यशः।
मुखभ्रूनेत्रयुक्तानि, करणानि तु कारयेत्॥"[१२५]

इत्यत्रापि यथायोगम् अर्थो द्रष्टव्यः। अन्यथा

व्याधिग्रस्ते ज्वरार्ते च तपश्श्रान्ते भयान्विते।
मत्तोन्मत्तप्रमत्तेषु, शोकार्तेशीतविप्लुते॥

न हस्ताभिनयो योज्यः, कार्यः सत्त्वसमुद्भवैः।[१२६]

इत्यनेन विरोधः स्यात्। अत्र खलु अनुकार्यगतस्य शोकाद्यतिरेकस्य किञ्चित् शैथिल्यं स्यादिति शङ्कयैव[१२७] हस्ताभिनयो निषिद्धः। अत अनुकार्यभावेन अविरुद्धैः एव हस्ताभिनयैः भवितव्यम् इति मुनेः अभिप्रायो दृश्यते।

पूर्वपक्षी प्रश्न करता है – इस तरह तो मंच पर स्थित किसी पात्र को सर्प आदि को दिखाना हो, तो वह

---

[१२४] *दशकरूपक*, ९.१६४, प्रोफेसर उन्नि ने इसका सन्दर्भ ९.१५७ दिया है। बडोदरा संस्करण में यह कारिका इस प्रकार है –
अन्ये चाप्यर्थसंयुक्ता लौकिका ये करास्त्विह।
छन्दतस्ते नियोक्तव्या रसभावविचेष्टितैः।।

[१२५] प्रोफेसर उन्नि के अनुसार *नाट्यशास्त्र* ९.२०९। *नाट्यशास्त्र* के बडोदरा संस्करण में यह कारिका इस रूप में नहीं मिलती। एक अन्य कारिका में इसका उत्तरार्द्ध अवश्य है –
नृत्तेऽभिनययोगे वा पाणिभिर्वर्तनाश्रये।
मुखभ्रुनेत्रयुक्तानि करणानि प्रयोजयेत्।। – वडोदरा संस्करण ९.२२०

[१२६] *नाट्यशास्त्र* के बडोदरा संस्करण में ये कारिकाएँ बहुत भिन्न पाठ में इस प्रकार हैं –
विषण्णे मूर्च्छिते भीते जुगुप्साशोकपीडिते।
ग्लाने स्वप्ने विहस्ते च निश्चेष्टे तन्द्रिते जडे।।
व्याधिग्रस्ते जरार्ते च भयार्ते शीतविप्लुते।
मत्ते प्रमत्ते चोन्मत्ते चिन्तायां तपसि स्थिते।।
हिमवर्षहते बद्धे वारिणाप्लवसंश्रिते।
स्वप्नायिते च संभ्रान्ते नतसंस्फोटने तथा।।
न हस्ताभिनयः कार्यः कार्यः सत्त्वस्य सङ्ग्रहः। – *नाट्यशास्त्र* ९.१७७-८०

[१२७] स्यात् इति शङ्कया एव – P

केवल हस्ताभिनय कर पाएगा, आँखों का विकार नहीं दिखा पाएगा। उत्तरपक्षी का समाधान है – (यदि ऐसा हो, तो) इसमें विरोध क्या है?

पूर्वपक्षी – विरोध है। हस्ताभिनय मुखराग आदि के साथ किया जाना चाहिए। उदाहरणार्थ सर्प के अभिनय में ही सारी अंगुलियों के अग्रभाग कुञ्चित करके हस्त के साथ दृष्टिविशेष और जिह्वा को चलाते हुए फूत्कार भी की जाती है। इस तरह का हस्त सर्प की आकृति है। जिह्वा का चलना आदि स्वाभाविक चेष्टा है, उसी के अनुरूप दृष्टि भी होगी।

उत्तर में कहते हैं – सर्प की दृष्टि तथा जिह्वा असर्प में हो यह उचित है क्या? बिना दृष्टि और मुखविकार के हनुमान् में सर्प का प्रतीत होना कैसे सम्भव होगा – यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि हस्त द्वारा ही सर्प का अभिनय नाट्यन्याय से सिद्ध हो जाता है। हस्ताभिनय चित्राभिनय का पर्याय है, वह मनोवृत्ति के विकल्प के रूप में किया जाता है। अनुकार्य की मनोवृत्ति सामाजिकों के लिए सीधे विषय नहीं बनती, अतः नेत्र आदि का अभिनय भी उचित है – यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा करेंगे तो हनुमान् का भाव खण्डित हो जाएगा।

पूर्वपक्षी फिर प्रश्न उठाता है कि "सर्वे हस्तप्रचारास्तु प्रयोगेषु तथाविधि। नेत्रभ्रूमुखरागाद्यैः कर्तव्या रञ्जिता बुधैः (नाट्यप्रयोग में विधिपूर्वक सारे हस्तप्रचार नेत्र, भ्रू, मुखराग आदि के साथ जानकार नट को करने चाहिए)" – यह कहा गया है। इसका अर्थ तो यही है कि नेत्र, भ्रू, मुखराग आदि अनुकार्य से सम्बन्धित अनुभावों के साथ अविरुद्ध हस्तप्रचार करने चाहिए। यहाँ रञ्जित शब्द का प्रयोग अविरुद्ध के अर्थ में है, क्योंकि नेत्र, भ्रू, मुखराग आदि यथाविधि अनुकार्य में ही होंगे – यह कहा है। इस अनुकार्य के नेत्र आदि विकार अभिनय रूप में कहे गए हैं। साथ ही यह भी कहा है – "अर्थ से संयुक्त और भी जो लौकिक हस्त समझ में आएं, विभिन्न भावों व चेष्टाओं के साथ स्वेच्छा से उनका अभिनय करें।"

उत्तरपक्षी का कथन – यहाँ पर – "नृत्य में तथा अभिनय में भी इन हस्तों के मुख, भ्रू और नेत्र की मुद्राओं से युक्त करणों का प्रयोग करें।" (*नाट्यशास्त्र* की) इस कारिका में यथायोग अर्थ समझा जाना चाहिए। अन्यथा – "व्याधिग्रस्त, ज्वर से आर्त्त तथा श्रम से श्रान्त, भयभीत, मत्त, उन्मत्त और प्रमत्त, शोकार्त्त, शीत से परेशान व्यक्ति का अभिनय करने के लिए हस्ताभिनय का प्रयोग न करें, वहाँ सात्त्विक अभिनय से प्रयोग होगा।" – (भरतमुनि के) इस कथन से विरोध होगा। यहाँ अनुकार्य में विद्यमान शोक आदि भावों के अतिरेक का किञ्चित् शैथिल्य हो जाएगा, इस शंका से ही हस्ताभिनय का निषेध किया गया है। इसलिए अनुकार्य के भाव से जो विरोधी न हों, ऐसे हस्ताभिनयों का ही प्रयोग होना चाहिए यह भरतमुनि का अभिप्राय लगता है।

ननु इह अनुकार्यभावाविच्छेदार्थं हस्ताभिनयनिषेधे, हस्ताभिनयः नियतनेत्रादिविकारयुक्तः इत्यभिप्रायः इति किं न स्यात्।

न स्यात्। तथा सति वेषवद्भावः त्रुटितः स्यात्। न च एतद् युक्तम्। अत एव उक्तं "या यस्य नियता गतिश्च" इत्यादि। स्वभावस्तु नेत्रप्रतिष्ठः। यदाह

"इह भावा रसाश्चैव, दृष्टावेव प्रतिष्ठिताः।
दृष्ट्या हि सूचितो भावः, पश्चादङ्गैर्विभाव्यते" ॥[१२८]

इति। भावा रसाश्चात्र[१२९] अनुकार्यसंबन्धिनः, न परामृश्यसंबन्धिनः अप्रसङ्गात्। ततः दृष्टिः सर्वदा अनुकार्यभावप्रदर्शनैकपरायणा एव भवितुम् अर्हति। न तु परामृश्यस्य स्वभावं भावं वा अनुसर्तुं घटते। तथा हि परामृश्यपदार्थाभिनये अनुकार्यस्य कश्चित् निजो भावः समस्ति वा न वा। नास्ति इति न स्यात्, भावाभावेन नाट्यस्य नीरसत्वप्रसङ्गात्। अस्तिपक्षे स भावः किं नेत्रप्रतिष्ठः इति प्रसिद्धेः। तत्र पुनः अनुकार्यभावस्य विच्छेदेन परामृश्यपदार्थाभिनयः किं क्रियताम्, उत अविच्छेदेन क्रियताम् इति[१३०] पर्यालोचनीयम्।

पूर्वपक्षी फिर प्रश्न करता है – भरतमुनि ने अनुकार्य के भावों का विच्छेद न हो, इसलिए हस्ताभिनय का निषेध किया है, हस्ताभिनय यहाँ निर्धारित नेत्रादिविकार से युक्त होना चाहिए – यह उनका अभिप्राय क्यों न ले लिया जाए?

उत्तर – यह उनका अभिप्राय नहीं है। वैसा मानने पर वेश के अनुरूप भाव टूट जाएगा। यह उचित नहीं है। इसीलिए कहा है – "जिसकी जो नियत गति है..." इत्यादि। स्वभाव तो नेत्र में ही प्रतिष्ठित है। जैसा कहा ही है – "नाट्यप्रयोग में भाव और रस दृष्टि में ही प्रतिष्ठित हैं। दृष्टि द्वारा भाव की सूचना पहले की जाती है, बाद में अंगों से उसे विभावित या विशेष रूप में अनुभूत कराया जाता है।" यहाँ भाव और रस अनुकार्य से सम्बन्धित हैं, परामृश्य से सम्बन्धित नहीं, परामृश्य से सम्बन्धित (रस और भाव का अभिनय करने पर) अप्रासंगिकता होगी। तब दृष्टि सर्वदा अनुकार्य के भाव-प्रदर्शन में ही लगी रहने वाली होनी चाहिए, न कि परामृश्य के स्वभाव या भाव का अनुसरण करने वाली। क्योंकि परामृश्य का पदार्थाभिनय करने लग जाने पर अनुकार्य का अपना भाव वहाँ रहेगा या नहीं – (यह प्रश्न उठ खड़ा होता है)। नहीं रहेगा यह तो हो नहीं सकता, अन्यथा भाव के अभाव में नाट्य ही नीरस हो जाएगा। यदि रहेगा – यह मानें, तो वह भाव नेत्र में प्रतिष्ठित है – यह बात तो प्रसिद्ध है। इसमें भी अनुकार्य के भाव का विच्छेद करके परामृश्य का पदार्थाभिनय करना चाहिए, या बिना विच्छेद किए करना चाहिए, यह सोचने की बात है।

तदा अनुकार्यभावच्छेदे नाट्यस्य एव विच्छेदप्रसङ्गात्। परामृश्यानाम् अप्रधानत्वाच्च, तेषां केषाञ्चिद् अभिनये नेत्रविकारस्य स्वयम् अनङ्गीकृतत्वात् च द्वितीयः एव पक्षः युक्तिपक्षपातभूमिः अवशिष्यते। एवं अनुकार्यभावनिबद्धभावा दृष्टिः अन्यतो न किञ्चिदपि चलितुम् अर्हति।

दृष्ट्या च वैमत्यमधरस्य भ्रुवोर्मुखरागस्य च न युक्तमिति सर्पादिहस्ताभिनयविशेषे स्वल्पोऽपि मुखविकारो न कार्य[१३१] इति स्थितम्। चित्राभिनयश्चायं पाठ्यग्रन्थगतपदार्थविषयः स्यात्, न पुनः

---

[१२८] *नाट्यशास्त्र*, १३.३५-३६, प्रोफेसर उन्नि के अनुसार १३.३०, बडोदरा संस्करण में अन्तिम चरण इस प्रकार है – पुनरङ्गैर्विभाव्यते।

[१२९] भावाः रसाश्च अत्र – P

[१३०] उत अविच्छेदेन क्रियताम् इति – P

[१३१] वैमत्यम् अधरस्य भ्रुवोः मुखरागस्य च न युक्तम् इति सर्पादिहस्ताभिनयशेषः स्वल्पोपि मुखविकारः न कार्यः इति – P, वैमत्यम् अधरस्य भ्रुवोर्मुखरागस्य च न युक्तमिति सर्पादिहस्ताभिनयविशेषे स्वल्पोपि मुखविकारो न कार्यः इति – R

अन्तरा परिकल्पितप्रमेयान्तरविषयः।

तदुक्तम् –

वयोनुरूपः प्रथमं तु वेषो, वेषानुरूपश्च गतिप्रचारः।
गतिप्रचारानुगतं च पाठ्यं, पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः॥[१३२]

इति ।

अनुकार्य के भाव का विच्छेद करने पर तो नाट्य का ही विच्छेद हो जाएगा, क्योंकि परामृश्य की प्रधानता नहीं होती, उनमें से तो किसी का अभिनय किया भी जाए, तो उसमें नेत्रविकार को स्वयं अनुकार्य स्वीकार नहीं करता। अतः दूसरा पक्ष ही युक्ति की दृष्टि से विचार की परिधि में बचता है। इस प्रकार अनुकार्य के भाव में निबद्ध भाव वाली दृष्टि अन्यत्र बिल्कुल भी विचलित नहीं हो सकती। और दृष्टि के साथ अधर, दोनों भौंहें, तथा मुखराग का असामञ्जस्य उचित नहीं है। अतः यही निष्कर्ष निकला कि सर्पादि हस्त करते समय थोड़ा सा भी मुखविकार नहीं करना चाहिए। यदि चित्राभिनय करना है तो यह तो पाठ्यग्रन्थ के अन्तर्गत पदार्थ का विषय होगा, बीच में परिकल्पित प्रमेय के अन्तर्गत आने वाला विषय नहीं।

जैसा कहा ही है – पहले तो अनुकार्य की आयु के अनुरूप वेश होना चाहिए, फिर वेश के अनुरूप गतिप्रचार और गतिप्रचार के अनुगत पाठ्य तथा पाठ्य के अनुरूप अभिनय करना चाहिए।

किञ्च अनुकार्यो बोद्धा भवति। परामृश्यो बोद्धव्यः। बोद्धृबोद्धव्ययोः अजगजान्तरता। एवं सति हनूमतो रामादिपरामर्शप्रसङ्गे तद्भावापत्तिनटनमत्यन्तमनुचितम्। न खलु घटोऽयमिति[१३३] बुद्ध्यमानो बोद्धा घटीभवन् दृश्यते। किं तर्हि तदवस्थायाम् अपि स स्वयमेव। न च श्रूयते, "बद्ध्वा राक्षसराजानम्, आनयिष्यामि रावणम्",[१३४] "राजा दशरथो नाम रथकुञ्जरवाजिमान्"[१३५] इत्यादिना रावणादिपरामर्शे हरिप्रवीरस्य रावणादित्वमभूदिति[१३६]। नापि एतादृशो नाट्यप्रकारः,

---

[१३२] *नाट्यशास्त्र* १३.६८, प्रोफेसर उन्नि के अनुसार १३.६४।

[१३३] तद्भावापत्तिनटनम् अत्यन्तम् अनुचितम्। न खलु घटोयम् इति – P

[१३४] *रामायण*, सुन्दरकाण्ड, १.३८, प्रोफेसर उन्नि के अनुसार १.४२, यह सीतान्वेषण के लिए समुद्रलंघन को उद्यत हनुमान् का कथन है। पूरा श्लोक इस प्रकार है –
यदि वा त्रिदिवे सीतां न दृश्यामि कृतश्रमः।
बद्ध्वा राक्षसराजानमानयिष्यामि रावणम्।
यदि स्वर्ग तक भी श्रम करने पर सीता को मैं न देख सका, तो राक्षसराज रावण को ही बाँधकर ले आऊँगा।

[१३५] *रामायण*, सुन्दरकाण्ड, २९.२, यह अशोक वाटिका में सीता को देखने के बाद उनके साथ बातचीत आरम्भ करने के लिए कहा गया हनुमान् का कथन है। पूरा श्लोक इस प्रकार है –
राजा दशरथो नाम रथकुञ्जरवाजिमान्।
पुण्यशीलो महाकीर्तिर्ऋजुरासीन्महायशाः।।
रथों, हाथियों व घोड़ों की सेना से युक्त पुण्यशील, महान् कीर्ति वाले, सरल प्रकृति के महायशस्वी राजा दशरथ थे।

[१३६] रावणादित्वम् अभूद् इति – P

लोकधर्मी नाट्यधर्मी, धर्मी तु द्विविधा मता।[१३७]

इत्यादौ मुनिविहितधर्म्यादिनिरूपणे अनवलोकनात्।

और अनुकार्य बोद्धा होता है। परामृश्य बोद्धव्य होता है। बोद्धा और बोद्धव्य में वैसा ही अन्तर है जैसा बकरे और हाथी में। ऐसी स्थिति में हनुमान् का राम आदि अन्य पात्रों का परामर्श करते समय उनके भाव में डूबकर नटन करना अत्यन्त अनुचित है। यह घट है – ऐसा बोध करने वाला बोद्धा स्वयं घट में परिणत नहीं हो जाता। फिर होता क्या है? घट का बोध करते समय वह अपने स्वयं के प्रकृत रूप में ही रहता है। ऐसा तो कहीं नहीं सुना कि जब हनुमान् यह संवाद बोल रहे हों कि राक्षसराज रावण को बाँधकर मैं ले आऊँगा, या जब वे कह रहे हों कि रथ, हाथी और घोड़ों से युक्त एक राजा दशरथ थे – तब वे स्वयं रावण या दशरथ के रूप में परिणत हो जाते हों। ऐसा नाट्यप्रकार कहीं नहीं देखा। (भरतमुनि के अनुसार) लोकधर्मी तथा नाट्यधर्मी – यह दो प्रकार की धर्मी कही गई हैं। उसमें भी भरतमुनि द्वारा ऐसी पद्धति का प्रतिपादन नहीं किया गया।

ननु महात्मभिः उक्तं "देवदत्तो घटीभूतो", घटं वेत्ति घटात्मना प्रकाशते, इति। मैवम्। अत्रायं नयो नोपयुज्यते[१३८], अद्वैतयुक्त्या द्वैतनिर्वाहस्य कर्तुमशक्यत्वात्[१३९]। सर्वाभेददर्शनपरिग्रहे निरीहतोपपत्तौ भेदप्रभेदालम्बनस्य क्रियास्वलक्षणस्य नाट्यस्य कथाऽपि कथायेत।

पूर्वपक्षी फिर आक्षेप करता है – महात्माओं ने कहा है कि "घट के अवलोकन के समय देवदत्त स्वयं घट में परिणत हो जाता है" तथा जब वह घट का बोध करता है, तो घट के रूप में प्रकाशित होता है। (अतः हनुमान् द्वारा राम आदि का परामर्श या बोध करते समय राम रूप में परिणति उचित है। उत्तरपक्षी कहता है – ऐसी बात नहीं। यहाँ पर यह सिद्धान्त लागू नहीं होता, क्योंकि अद्वैत की उक्ति से द्वैत का निर्वाह करना सम्भव नहीं हो सकता। सर्वत्र अभेद का दर्शन मानकर चलेंगे, तो ऐसे निरीह हो जाएंगे कि क्रियालक्षणरूप नाट्य का भी नामोनिशान न रहेगा।

किञ्च घटीभूतः सन् कथं घटं वेत्तुं घटते, घटीभूतत्वेन ऐक्यापातात्। सति हि भेदे ग्रहीतुः ग्राह्यग्रहणं भवेत्। घटीभावे अस्य देवदत्ततापुरुषविशेषता किं करोति, किं देवदत्त एव तिष्ठेदुतान्यत्र गच्छेत्[१४०]। न आद्यः सहानवस्थानलक्षणात् विरोधात्। न हि गजे अश्वत्वं भवति। द्वितीये किं तस्मिन् घटे गच्छेत् अन्यत्र कुत्रचित् वा। घटे चेद् देवदत्तीभूतो घटः घटीभूतो देवदत्तः इत्यनेन व्यत्यासेन किं भवति? यथा पूर्वमवस्थाने किं छिन्नम् तस्यापि अन्यत्र चेत् तस्य प्राक्तनं रूपं अन्यत्र गच्छेत् तस्यापि अन्यत्र इति सकलपदार्थसार्थानाम् अन्यथात्वम् अन्ते च एकस्य रूपस्य निराश्रयत्वं स्यात्। निराश्रयत्वे प्रथमरूपमेव[१४१] किं न कल्प्येत। कथं च धर्मो निराश्रयः स्यात्। नष्टस्य वा कथं

---

[१३७] *नाट्यशास्त्र* ६.६४, प्रोफेसर उन्नि के सन्दर्भ में ६.२६।

[१३८] अत्र अयं नयो न उपयुज्यते – P

[१३९] कर्तुम् अशक्यत्वात् – P

[१४०] देवदत्ते एव तिष्ठेद् उत अन्यत्र गच्छेत् – P

[१४१] निराश्रयत्वे प्रथममेव – P; निराश्रयत्वे प्रथमरूपमेव – R

पुनरुद्भवः। न हि दृष्टघटस्य देवदत्तस्य पुनः पटदर्शने घटत्वम्। किं तर्हि देवदत्तत्वमेव घटात्मना प्रकाशते इत्यत्र च किमिदं प्रकाशनं घटत्वं वा घटः इति ग्राह्यत्वं वा। न आद्यः, जलाहरणाद्ययोगात्, द्वितीये ज्ञात्रन्तरापेक्षम् इदं प्रकाशनम् इति अद्वैतहानिः स्यात्।

तस्मादलमलं वाचा, विद्वन्नागमलब्धया।
यथा नाट्ये तथैवास्मिन् अद्वैतेऽपि कृती भवान्॥८३॥

और फिर यदि घट का द्रष्टा स्वयं घट बन गया, तो वह घट को देखेगा कैसे? वह तो घट से एकाकार हो गया। भेद होने पर ही तो ग्रहीता ग्राह्य का ग्रहण कर सकता है। घट से एकाकार होने पर तो उस ग्रहीता या द्रष्टा की देवदत्तता और पुरुषविशेषता समाप्त हो जाएगी, तब यह संशय होगा कि वह देवदत्त के रूप में रहेगा या अन्य रूप में। पहला पक्ष सम्भव नहीं है, क्योंकि घटाकार होने पर घट के साथ उसकी जो अवस्थिति है, उससे विरोध होगा। हाथी में अश्वत्व नहीं हो सकता। द्वितीय पक्ष में यह प्रश्न आएगा कि देवदत्त उस घट में रहेगा या अन्यत्र? घट में यदि रहता है तो घट देवदत्त के रूप में परिणत है या देवदत्त घट के रूप में? (दोनों ही स्थितियों में) व्यत्यास होगा। देवदत्त देवदत्त के रूप में ही रहे, इसमें क्या बिगड़ा? यदि उसका अवस्थान अन्यत्र होता रहेगा तो जो उसका प्राक्तन या पहले वाला रूप अन्यत्र चला गया, वह अन्यत्र गया रूप फिर किसी अन्य वस्तु का ग्रहीता होने पर फिर अन्य तीसरे रूप में परिणत हो जाएगा। अन्त में मूल रूप का तो निरास हो जाएगा। निराश्रयता की ऐसी स्थिति में पहले वाला रूप ही बना रहा यही क्यों न मान लिया जाए? धर्म भला अपने आश्रय या धर्मी के बिना कैसे रह सकेगा? नष्ट हुए का फिर से उद्भव भी कैसे हो सकता है? जिस देवदत्त ने घट देखा, वह पट को देखते समय घटरूप तो हो नहीं सकेगा। तो फिर क्या देवदत्तत्व ही घट के रूप में प्रकाशित होता है – यह मान लें, तो यहाँ तो देवदत्त का घटत्व रूप में यह प्रकाशन घटत्व है, या घट है या उसका ग्राह्यत्व है। इनमें पहला पक्ष सम्भव नहीं है, क्योंकि जैसे घट में जल भरकर लाया जा सकता है, देवदत्त में नहीं, द्वितीय पक्ष में अन्य ज्ञाता की अपेक्षा से यह प्रकाशन होता है तब अद्वैत की हानि होगी।

इसलिए हे विद्वान्, आगम से प्राप्त अपनी वाणी बन्द करो। क्योंकि तुम जिस तरह नाट्य में कृती हो उसी तरह अद्वैत में भी॥८३॥

ननु हनूमदनुकरणे अन्येषां परामृश्यत्वमेव चेत् किं हस्ताभिनयवाचिकाभ्याम्, तूष्णीं परामर्श एव अलम्। यावता कालेन अङ्कवस्तुचिन्तापरिसमाप्तिः स्यात् तावन्तं कालं निस्पन्दमेव स्थित्वा पुनः निष्क्रमणं विधेयम्।

पूर्वपक्षी फिर कहता है – हनुमान् के अनुकरण में अन्य पात्र परामृश्य तो बन ही जाते हैं, तो फिर हस्ताभिनय और वाचिक अभिनय का भी क्या काम? प्रस्तुत किए जा रहे अंक की कथावस्तु के विषय में जितने समय में चिन्ता समाप्त हो उतने समय तक हनुमान् का अभिनय करने वाला पात्र निःस्पन्द खड़ा रहे और फिर निष्क्रमण कर ले।

उच्यते किमनेन हस्ताभिनीतस्यापि अनुकार्यत्वमस्तीति[१४२] साध्यम्। तर्हि हनूमदाहार्येण

[१४२] किम् अनेन हस्ताभिनीतस्यापि अनुकार्यत्वम् अस्त इति – P

अवस्थाने रामाद्यभिनीतौ हनूमान् रामादिमनुकरोतीति[१४३] स्यात्।

इदं नः समीहितम् इति चेत् स्थिते हनूमत्वे रामीभूय सुग्रीवाद्यभिनये हनूमताऽनुक्रियमाणो[१४४] रामः सुग्रीवमनुकरोति[१४५] इति स्यात्।

पूर्वपक्षी फिर कहता है – हनुमान् का पात्र जिस अन्य पात्र का हस्ताभिनय कर रहा है, वह अन्य पात्र भी अनुकार्य बन जाए – यह यहाँ साध्य है। (उत्तरपक्षी कहता है) – ऐसी स्थिति में हनुमान् के आहार्य में रहकर राम आदि अन्य पात्र के अभिनय काल में हनुमान् राम का अनुकरण कर रहे हैं – यह कहना होगा।

यदि यह कहो कि हाँ, यही तो उचित है (कि हनुमान् का पात्र राम आदि का अनुकरण कर रहा है – यह मान लिया जाए, तो यह भी उचित नहीं, क्योंकि), तब फिर हनुमान् के रूप में स्थित रहकर राम के अनुकार्य का अभिनय जब हनुमान् कर रहे हैं, तो वे राम के रूप में हैं, राम के रूप में वे जब सुग्रीव का परामर्श करेंगे, तो सुग्रीव का अभिनय करने लगेंगे, तब यह स्थिति बनेगी कि हनुमान् द्वारा जिन राम का अनुकरण किया जा रहा है, वे सुग्रीव का अनुकरण कर रहे हैं।

२०. हनुमदनुकर्तरि नटे रामादेरारोपेण अनवस्था तिरोहितत्वापत्तिश्च (हनुमान् का अनुकरण करने वाले नट पर रामादि के आरोप के कारण अनवस्था तथा अदृश्यत्व की आपत्ति)

तदप्यस्तु[१४६] इति चेत् साधो, त्वदीयमनुकर्तृतात्मकं[१४७] नटत्वं रामादौ आरोप्य किं तव फलं भविता।

तथा च क्वचित् शरदाद्यभिनयेन तदनुकरणे सति अमूर्तस्य शरत्कालस्य अनुकर्ता रामोऽपि अमूर्तीभूय अदृश्यः स्याद्, अनुकरणस्य तन्मयीभावत्वात्।

यदि यह कहो कि ठीक है, हे साधो, यही हो जाए। तब हम कहेंगे कि हे सज्जन, यह अनुकर्तृतात्मक नटत्व राम आदि पात्रों पर थोपकर तुम्हें कौन सा फल मिलने जा रहा है?

और फिर कभी (राम के वियोग के प्रसंग में राम का अभिनय करने वाले पात्र को) जब शरद् ऋतु का परामर्श करना पड़े, उसके अनुकरण में अमूर्त शरद् ऋतु के अनुकर्ता राम भी अमूर्त बनकर अदृश्य हो जाएंगे, क्योंकि अनुकरण में तो तन्मयी भाव हुआ करता है।

ननु अदृश्यः एव रामः, अतीतत्वाद् इति चेत् न, अनुकरणेन वर्तमानीकृतत्वात्। अतः एव सामाजिकानां रामोऽयम् इति अध्यक्षप्रतिपत्तिः। तथाविधः अयं शरदनुकृतौ तिरोधीयेत। ततः तदनुकर्ता हनूमान्, तदनु तादृशहनूमदनुकर्तुः तवापि अदृश्यत्वेन अभावः समापतेत्।

---

[१४३] रामादिम् अनुककरोति इति – P

[१४४] हनुमता अनुक्रियमाणो – P

[१४५] सुग्रीवमनुकरोति – P

[१४६] तदपि अस्तु – P

[१४७] त्वदीयम् अनुकर्तृतात्मकं – P

यदि कहो कि राम तो अतीत के पात्र हैं, इसलिए वे अदृश्य तो हैं ही, तो यह ठीक नहीं। क्योंकि अनुकरण द्वारा अतीत के राम का वर्तमानीकरण कर दिया गया है। अतएव सामाजिकों को ये राम हैं – ऐसा प्रत्यक्ष साक्षात्कार की प्रतीति होती है। अब इन प्रत्यक्ष राम को शरद् ऋतु के अनुकरण में अन्तर्ध्यान या अदृश्य ही होना पड़ेगा।

फिर तो उन राम के अनुकर्ता हनुमान्, और उन हनुमान् के अनुकर्ता तुम (चाक्यार) को भी अदृश्य होना पड़ेगा, तो अदृश्य होने के कारण तुम्हारा तो अभाव ही हो जाएगा।

२१. परामर्शोऽनुकरणं नाति पूर्वपक्षिवादे विचारः
(परामर्श अनुकरण नहीं – पूर्वपक्षी के इस कथन पर विचार)

ननु एवं परामर्शो नानुकरणम्[१४८] इति स्थिते किं प्रदर्शनपाठग्रहेण। न च हस्तचलनशब्दौ परामर्शौ भवतः, प्रत्यक्षत्वात्।

स तु ज्ञानात्मा न प्रत्यक्षः। अन्तरेव संस्थितत्वात्, अन्यथा देवदत्तस्य ज्ञानं कदाचिद् यज्ञदत्तस्य नयनपदवीम् अवतरेत्।

न च कपीश्वरः सीतादर्शने एषा इत्यादि भाषां वा पुरोवर्तिसूचकाद्यभिनयं वा चकार। यत्र कविकुलप्रथमगुरोः

इयं सा यत्कृते रामश्चतुर्भिः परितप्यते।[१४९]

इत्यादि भारती चकास्ति। अपि तर्हि तथा चिन्तितवान् एव।

(पूर्वपक्षी का कथन) – इस प्रकार का परामर्श अनुकरण नहीं हुआ करता, इसलिए उसके प्रदर्शन के पाठ का आग्रह करने का कोई अर्थ नहीं है, हस्त के चलन की ध्वनियाँ परामर्श नहीं बनती, क्योंकि वे प्रत्यक्ष होती हैं, तो इसके उत्तर में हम कहेंगे कि वे ध्वनियाँ प्रत्यक्ष नहीं, ज्ञानात्मक हैं, क्योंकि वे ध्वनियाँ भीतर ही रहती हैं, अन्यथा देवदत्त का ज्ञान कदाचिद् यज्ञदत्त के लिए प्रत्यक्ष बन जाएगा।

और कपीश्वर (हनुमान्) ने सीता के दर्शन के समय – ये रही सीता – यह शब्दशः कहकर सामने विराजमान सीता का तो सूचना आदि द्वारा अभिनय नहीं किया, जहाँ कविकुल के प्रथमगुरु (आदि कवि वाल्मीकि) की

---

[१४८] न अनुकरणं – P

[१४९] *वाल्मीकिरामायण*, वडोदरा संस्करण, सुन्दरकाण्ड, १३.४। प्रोफेसर उन्नि ने इसका सन्दर्भ अन्य संस्करण से १५.४९ दिया है। नटाङ्कुशकार ने अथवा उसकी पाण्डुलिपि के लेखकों ने अनेक स्थानों पर सन्धिविग्रह करके संस्कृत पद्यों को लिखा है। प्रकाशित संस्करण में यह पंक्ति "इयं सा यत्कृते रामः चतुर्भिः परितप्यते" – इस रूप में मुद्रित है, जो उचित पाठ नहीं है। पूरा श्लोक प्रामाणिक पाठ में इस प्रकार है –
इयं सा यत्कृते रामश्चतुर्भिः परितप्यते।
कारुण्येनानृशंस्येन शोकेन मदनेन च।।
अशोक वाटिका में पहली बार सीता को देखकर हनुमान् अपने से कहते हैं – यही वह सीता है, जिसके लिए राम चार कारणों से सन्तप्त रहते हैं – कारुण्य के कारण, दया के कारण, शोक के कारण और प्रेम के कारण।

इयं सा यत्कृते रामः चतुर्भिः परितप्यते।

यह वही सीता है, जिसके लिए राम चार कारणों से सन्तप्त रहते हैं

इत्यादि वाणी स्फुरित हुई है। या फिर तुमने क्या यह भी सोच लिया कि इस प्रसंग में हनुमान् से सीता का परामर्श और अभिनय करा दिया जाएगा?

२२. वेषविरुद्धानुकरणस्यासिद्धत्वम्
(वेष या आहार्य के विरुद्ध अनुकरण करने में अनुपपत्ति)

येनैवमुच्यते[१५०] किमिदं त्वम् अस्मान् पृच्छसि। भवानेव अत्र पण्डितपताकां हरति। युष्मद् कुलविद्या खलु नाट्यम्। अथवा पृष्ठस्य किञ्चिद् वक्तव्यम्। इह अभीप्सिते परमानन्द-मयरसमास्वादविनोदने तद्रसस्य पुरातनपुरुषवरचरितनिबन्धनत्वाद् अस्य च दृश्यतायां गरीयवस्तु तदुपायभूतमिदमनुकरणात्मकं नाट्यमुद्भावितम्[१५१]।

यदि कहो कि यह बात तो तुम कह रहे हो हमसे यह क्यों पूछते हो, तो उस पर हमारा उत्तर यह है कि आप ही तो पण्डितों की पताका का हरण कर रहे हैं (बड़े पण्डित बने फिरते हैं), नाट्य तुम लोगों के कुल की विद्या है। अथवा पूछने पर कुछ कहना तो चाहिए। यहाँ परमानन्दमय रस के आस्वाद का विनोदन अभीप्सित है, वह रस प्राचीन पुरुष पात्र के उत्तम चरित की प्रस्तुति से जन्म लेता है, इस चरित को दृश्य बनाने के लिए उपाय के रूप में यह अनुकरणात्मक नाट्य रचा गया है।

स्वदते च मुख्यदर्शनाद् अमुख्यदर्शनम्। न खलु पुस्तात्मनि इव पुंसि सत्ये कौतुकम् उदञ्चति।

तत्र –

वेषेण वर्णकैश्चैव छादितः पुरुषस्तथा।
परभावं प्रकुरुते यस्य वेषं समाश्रितः॥[१५२]

इत्युक्तेः आहार्यहारिनटावष्टम्भेन रामादिस्वरूपसाक्षात्कारः।

मुख्य या मूल पात्र को देखने से आस्वाद नहीं होता, अमुख्य या उसके अनुकर्ता को देखने से होता है। जैसे पुस्त (बाँस, मिट्टी आदि से बनी) पुरुष की आकृति से कौतुक उत्पन्न नहीं होता, उसी तरह सचमुच के मूल पात्र को देखकर भी कौतुक उत्पन्न नहीं होता (उसका अभिनय करने वाले नट को अभिनयकाल में देखते हुए कौतुक होता है)। जैसा (भरतमुनि ने *नाट्यशास्त्र* में) कहा है –

वेश और वर्ण से आच्छादित नट जिस मूल पात्र के वेश को धारण किए है, उसका परभावकरण करता है।

इस उक्ति के अनुसार आहार्य का हरण करने वाले नट के अवष्टम्भ से राम आदि के स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है।

---

[१५०] येन एवम् उच्यते – P

[१५१] तदुपायभूतम् इदम् अनुकरणात्मकं नाट्यम् उद्भावितम् – P

[१५२] *नाट्यशास्त्र* २१.९०-९१, प्रोफेसर उन्नि के अनुसार २१.८३।

भाषा च परिकल्पितापि तथाऽनभिमन्यमानाऽनुभूयते। उपकरणस्य गानादिक्रियायाश्च न विशेषः। सुखदुखाद्यवस्था नयनवदनादि-विकारविशेषैः अवगम्यन्ते।

तथा लोके मनोगतवस्तुनः तु साक्षात्कारे को विधिरस्तु इति विचिन्त्य गत्यन्तराभावाद् वाग् अवाकल्पि। स्थाने च एतत्।

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके, यः शब्दानुगमादृते।[१५३]

(उन राम आदि पात्रों की) भाषा (नाटककार या कवि द्वारा) परिकल्पित होते हुए भी परिकल्पित नहीं समझी जाती, सामाजिक या सहृदय उसका राम आदि पात्रों की भाषा के रूप में ही अनुभव करता है।

(धनुष-बाण आदि) उपकरण तथा गान आदि क्रियाओं में कोई अन्तर नहीं प्रतीत होता (वे राम आदि पात्रों के ही उपकरण तथा गान समझ लिए जाते हैं), और सुख–दुःख आदि अवस्थाओं की प्रतीति (राम आदि का अभिनय करने वाले नट) के नयन व वदन आदि के विशेष प्रकार के विकारों से हो जाती है। जिस तरह संसार में भी मनोगत वस्तु के साक्षात्कार के लिए क्या तरीका हो, यह सोचकर अन्य कोई गति न होने से वाणी की कल्पना की गई (अग्नि, पुष्प आदि शब्दों को लोक में विद्यमान अग्नि या पुष्प के प्रतीक के रूप में उच्चारण किया जाता है, और उससे अग्नि या पुष्प की साक्षात्कारात्मक प्रतीति हो जाती है)। यही उचित भी है। जैसा (भर्तृहरि आदि ने कहा है) –

संसार में ऐसा कोई बोध नहीं, जो बिना शब्द के हो सके।

इति वाग्गतं खलु वाचि निष्ठम्। मनोगतमप्यस्यामेव इति वागेवात्र प्रथमाधिष्ठानम्। तदुक्तम् –

वाचि यत्नो विधातव्यः काव्यस्यैषा तनुः स्मृता।[१५४]

इस तरह प्रत्येक वस्तु शब्द या वाणी में है, मनोगत भी वाणी में ही रहता है, अतः वाणी ही यहाँ नाट्य में प्रथम अधिष्ठान है। जैसा (भरतमुनि ने) कहा है –

वाणी में प्रयास करें, वही काव्य का शरीर है।[१५५]

अत एवाभ्यधायि – शृणुत मनोभिरवहितैः क्रियामिमां कालिदासस्य[१५६] इति। तस्मात्

---

[१५३] *वाक्यपदीय* १.१२३, पूरी कारिका इस प्रकार है –
न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके, यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।
संसार में ऐसा कोई बोध नहीं, जो बिना शब्द के अनुगमन के हो सके। जितना जो कुछ ज्ञान है, वह शब्द में पिरोया हुआ ही भासित होता है।

[१५४] *नाट्यशास्त्र* १४.२, वडोदरा संस्करण में पाठ इस प्रकार है – "वाचि यत्नस्तु कर्तव्यो नाट्यस्यैषा तनुः स्मृता"।

[१५५] वडोदरा संस्करण में प्राप्त पाठ के अनुसार – यही नाट्य का शरीर है – यह अनुवाद होगा।

[१५६] प्रणयिषु वा दाक्षिण्यादथवा सद्वस्तुपुरुषबहुमानात्।
शृणुत जना अवधानात् क्रियामिमां कलिदासस्य।। – *विक्रमोर्वशीयम्* १.२
(हे सज्जनों, अपने प्रणयी या स्नेहीजनों अर्थात् नाटक करने वाले कलाकारों के प्रति उदारता के कारण, अच्छी कथावस्तु और श्रेष्ठ पुरुषों या पात्रों के प्रति आदर के कारण कालिदास की इस कृति को ध्यान देकर सुनिए)। →

चिन्तितविषयायां वाचि चिन्त्येयम् इत्येव बुद्धिः विधातव्या, न तु भाषणमिति। नटादिप्रदर्शनं पुनरेव तत्प्रकार एव। यथाह –

अङ्गाद्यभिनयस्येह, यो विशेषः क्वचित् क्वचित्।
अव्यक्त उच्यते चित्रः, स चित्राभिनयः स्मृतः॥[१५७]

इति। तत्र अयं योषिदाद्यभिनयोऽपि समयप्रसादसमासादित एव।

(और) इसीलिए (कालिदास ने *विक्रमोर्वशीयम्* त्रोटक में) कहा है – कालिदास की इस रचना को एकाग्र मन से सुनिए।

मनोगत वस्तु उसमें कैसे हो सकती है इस पर विचार करें, तो यही समाधान है कि मान लिया जाए कि उच्चरित शब्द में मनोगत वस्तु का बोध है। परन्तु यह मानना मन के भीतर ही होता, शब्दों से इसे नहीं कहा जाता। नटादि का प्रदर्शन भी इसी शाब्दबोध के समान ही हुआ करता है। जैसा कि कहा है –

> आंगिक आदि अभिनयों के कुछ विशेष प्रकार कभी-कभी किए जाते हैं, जिसमें अव्यक्त या अमूर्त को चित्रात्मक बनाकर प्रस्तुत कर दिया जाता है, वह चित्राभिनय होता है।

तब ऐसी स्थिति में हनुमान् के पात्र को स्त्री (सीता) का यह अभिनय भी प्रसंगवश करना पड़ जाएगा।

तदुक्तम् –

"प्रयत्नजनितशरीरतदवयवक्रिया चेष्टा। सा नाट्यशास्त्रादिसमयबलेन पुरुषाभिप्रायभाव-विशेषमर्थविशेषं[१५८] च गमयन्ती नागमाद् भिद्यते, लिप्यक्षरादर्थप्रतिपत्तिवद्"[१५९] इति। इत्थं वेषविरुद्धमनुकरणमनुपपन्नमिति[१६०] स्थितम्।

जैसा कहा है – शरीर और उसके अंगों से प्रयत्नजनित क्रिया चेष्टा है। *नाट्यशास्त्र* आदि के समय (सांकेतिक अभिनय पद्धति) के बल से पुरुष के विशेष अभिप्रायों और भावों तथा विशिष्ट अर्थों का उसी प्रकार बोध कराती है, जैसे लिपि के अक्षरों से अर्थ का बोध हो जाता है। इस तरह यह सिद्ध हुआ कि हनुमान् का राम आदि का अनुकरण करने लग जाना असंगत है।

२३. चाक्यारैर्नाट्यशास्त्रोक्तविधीनामुल्लङ्घनम्
(चाक्यारों द्वारा नाट्यशास्त्रोक्त विधियों का उल्लंघन)

अपि च यदिदमङ्कपात्रेण[१६१] प्रथनप्रथनं विधिविधानं दूराध्वानादिकं च अनुष्ठीयते,

---

← प्रोफेसर उन्नि ने *नटाङ्कुश* के संस्करण की टिप्पणी में तृतीय चरण में "शृणुत मनोभिरवहितै", यह पाठ सूचित किया है।

[१५७] *नाट्यशास्त्र* २५.१।

[१५८] पुरुषाभिप्रायभावविशेषम् अर्थविशेषं – P

[१५९] लिप्यक्षराद् अर्थप्रतिपत्तिवद् – P

[१६०] वेषविरुद्धम् अनुकरण् अनुपपन्नमिति – P

[१६१] यदिदमङ्कपात्रेण – P

तदपि नाट्यविदां हृदयमावर्जयितुं न क्षमं स्यात्। अस्पृष्टविष्कम्भादिना अङ्कपात्रेण अन्यपरेण निरूपितैतद्युद्धादीनां प्रत्यक्षतापत्तौ अनौचित्यात्। यथा आहुः –

दूराध्वानं वधं युद्धं, राज्यदेशादिप्लवम्।
संरोधं भोजनं स्नानं, सुरतं चानुलेपनम्।
अम्बरग्रहणादीनि, प्रत्यक्षाणि, न निर्दिशेत्॥[१६२] इति।

एवं संवरणधनञ्जयादौ अपि[१६३] द्रष्टव्यम्।

और यह जो अंक में काम कर रहे पात्र द्वारा प्रथनप्रथन (अत्यधिक विस्तार) विधि-विधान और मार्ग पर दूर तक जाना – यह सब करवाया जा रहा है, वह भी नाट्य के जानकार लोगों के हृदय को प्रभावित नहीं कर सकता। विष्कम्भक आदि (प्रवेशक) में अंकपात्र द्वारा अन्य पात्र का अभिनय करते हुए यह जो युद्ध आदि का निरूपण किया जा रहा है, उससे इन (युद्ध आदि) की प्रत्यक्षता की आपत्ति होने से अनौचित्त्य होगा। जैसा कहा है – दूर तक का मार्ग, वध, युद्ध, राज्य और देश आदि का विप्लव, संरोध (घेरना), भोजन, स्नान, सुरत, अनुलेपन, वस्त्र पहनना – ये सब (मंच पर) प्रत्यक्ष न दिखाएं।

(राजा कुलशेखर वर्मा द्वारा विरचित) *तपतीसंवरण* तथा *सुभद्राधनञ्जय* आदि (नाटकों) में भी इसी प्रकार समझना चाहिए।

२४. पुनरावृत्तिदोषः
(चाक्यारों की प्रस्तुति में कथा की पुनरावृत्ति पर आपत्ति)

किञ्च एकस्मिन्नेवाङ्के[१६४] पात्रभेदेन वा पात्राभेदेन वा एकस्य कथारूपस्यानेकवारमावृत्तिः क्रियते, तदेतन्नाट्यन्यायाभ्यन्तरीभूतं[१६५] न स्यात्। यत्तदेकस्मिन्नेव[१६६] नाटके निवारितं भवति। यथोक्तम् –

पूर्ववृत्तं तु यद्वाक्यं भूयः कथ्यं च कारणात्।
वाच्यं कर्णप्रदेशे तत् न स्यादुक्तं पुनर्यथा॥[१६७] इति।

और फिर एक ही अंक में पात्र के भेद से अथवा पात्र के भेद के बिना ही एक ही कथा-प्रसंग की अनेक बार जो आवृत्ति की जाती है, वह सब नाट्यन्याय के अन्तर्गत नहीं कहा जाएगा। एक ही नाटक में इस तरह की आवृत्ति का निषेध किया गया है। जैसा कि कहा है –

---

[१६२] *दशरूपक* ३.३४-३५।

[१६३] धनञ्जयादौ अपि – P

[१६४] एकस्मिन् एव अङ्के – P

[१६५] तदेतद् नाट्यन्यायाभ्यन्तरीभूतं – P

[१६६] यत्तद् एकस्मिन् एव – P

[१६७] *नाट्यशास्त्र* २५.८२, प्रोफेसर उन्नि के अनुसार २५.९३, बड़ोदरा संस्करण में भिन्न पाठ निम्न है –
पूर्ववृत्तं तु यत्कार्यं भूयः कथ्यं तु कारणात्।
कर्णप्रदेशे तद्वाच्यं मागात्तत्पुनरुक्तताम्।।

पूर्व में कहा गया वाक्य यदि किसी कारण से फिर से कहलवाना हो, तो उसे एक पात्र दूसरे के कान के पास मुँह ले जाकर सूचित कर दे, जिससे पूरा वाक्य दोहराने की आवश्यकता न रहे।

२५. शूर्पणखाया अङ्गच्छेदे अनौचित्यम्
(शूर्पणखा के नाक-कान काटते समय स्तनच्छेद का अनौचित्य)

अपि च यत् शूर्पणखाङ्के शूर्पणखावैरूप्यकृतौ तस्याः स्तनद्वयसञ्च्छेदनमपि[१६८] आहार्येण वितन्यते तस्य किं नाम मूलं भवेत्। न तावत् नाटकम्। अत्र खलु

न्यस्तमस्त्रं निशाचर्याः कथंचित् कर्णनासिके। .....

इत्येतावदेव उक्तम्। आर्षेऽपि –

इत्युक्तो लक्ष्मणस्तस्याः क्रुद्धो रामस्य पश्यतः।
उद्धृत्य खड्गं चिच्छेद कर्णनासं महाबलः॥[१६९]

इत्येवास्ति। तस्मात् स्वयंकृतमेव इदम्।

और यह जो शूर्पणखांक[१७०] में शूर्पणखा को (नाक-कान काटकर) विरूप बनाया गया, उस समय उसके दोनों स्तनों का छेदन भी आहार्य द्वारा प्रदर्शित किया जाता है – उसका क्या मूल हो सकता है, नाटक में तो यह प्रसंग है नहीं। यहाँ तो – निशाचरी के ऊपर शस्त्र का प्रयोग करके (लक्ष्मण ने) किसी प्रकार उसके कान और नासिका काटे – केवल इतना ही कहा है। आर्ष (*रामायण*) में भी –

राम के ऐसा कहने पर राम के देखते-देखते क्रुद्ध महाबली लक्ष्मण ने खड्ग उठाकर उसके कान और नाक काट दिए।

इतना ही कहा है। अतः यह आपने अपनी ओर से जोड़ा है।[१७१]

---

[१६८] स्तनद्वयसंछेदनम् अपि – P

[१६९] *वाल्मीकिरामायण*, अरण्यकाण्ड, १७.२१, वडोदरा संस्करण में भी यही पाठ है।

[१७०] *आश्चर्यचूड़ामणि* नाटक का द्वितीय अंक।

[१७१] केरल तथा तमिलनाडु में प्रचलित रामकथा में लक्ष्मण द्वारा शूर्पणखा के नाक और कान के साथ स्तन भी काटने का प्रसंग अनेकत्र मिलता है। प्रोफेसर उन्नि ने *नटाङ्कुश* पर अपनी टिप्पणियों में *अप्पियोपिल्ल आशन* (चौदहवीं शताब्दी), *रामायणचम्पू* (पन्द्रहवीं शताब्दी), *अध्यात्मरामायणम्* (सोलहवीं शताब्दी) आदि मलयालम् ग्रन्थों तथा *कम्बरामायण* से सन्दर्भ देकर इसे प्रमाणित किया है।

पञ्चमः अङ्कशः (पञ्चम् अंकुश)

मन्त्राङ्कनिरूपणम्
(मन्त्राङ्क का निरूपण)

१. केरलभाषयाया मिश्रणे विप्रतिपत्तिः
(प्राकृत के स्थान पर मलयालम् भाषा के प्रयोग पर आपत्ति)

यत् पुनः मन्त्राङ्के वसन्तकः केरलभाषया भाषते तदपि न पर्यालोचनां न समर्हति। नाट्येषु नूनं प्रतिपात्रं भाषानियमो विद्यते। तदाह।

पाठ्यं तु संस्कृतं नृणाम्, अनीचानां कृतात्मनाम्।
स्त्रीणां तु प्राकृतं प्रायः शौरसेन्यधमेषु च॥[१]

इत्यादि। तदनुसारेण इह कविना वसन्तस्य प्राकृतविशेषो भाषाऽयोजि[२]। ततः तेनैव व्यवहर्तव्ये तदतिक्रमेण भाषान्तरपरिग्रहः कथमिव सङ्गच्छते?

और मन्त्रांक (भास के *प्रतिज्ञायौगन्धरायण* के तीसरे अंक) में यह जो वसन्तक (विदूषक) केरल भाषा (मलयालम्) में (संवाद) बोलता है, विचार करने पर यह बात भी उचित नहीं लगती। नाट्यों में (भरतमुनि द्वारा) प्रत्येक पात्र के लिए भाषा नियम बताया गया है। जैसा कि कहा है –

जो नीच पात्र न हों (उत्तम पात्र हों) तथा श्रेष्ठ अन्तःकरण वाले हों, ऐसे पुरुषों के लिए संस्कृत पाठ्य होगा। स्त्रियों के लिए प्रायः प्राकृत पाठ्य होगा तथा अधम पात्रों के लिए शौरसेनी प्राकृत का प्रयोग किया जाएगा।

इत्यादि।

इस (निर्देश) के अनुसार (*आश्चर्यचूड़ामणि* नाटक के रचयिता) कवि (शक्तिभद्र) ने अपने नाटक में वसन्तक के लिए विशेष प्राकृत भाषा का समायोजन किया है। इसलिए उसी भाषा का व्यवहार (विदूषक वसन्तक के लिए यहाँ) करना चाहिए, उसके अतिक्रमण द्वारा अन्य भाषा को स्वीकार करना कैसे उचित ठहराया जा सकता है?

ननु चास्य[३] सकलभाषावेदितत्वाद्, वेषपरिवर्तनादौ तत्तज्ज्ञनाभिमुखं बहुप्रकारभाषित्वात् च तदनुकृतौ इह इयं भाषा युक्ता, अन्यत्र तत्रत्या च। नाटकयोजिता तु सर्वत्र साधारणी न क्वचिदपि परित्यज्यते। तया सह तत्र तत्र देशभाषा परिगृह्येत।

---

[१] *दशरूपक* २.६४।

[२] भाषा अयोजि – P

[३] च अस्य – P

अत्र ब्रूमः। कथं यौगन्धरायणस्य देशभाषापरिग्रहो न भवति। सोऽपि हि तथा सकल-भाषाव्यवहारी।

किञ्च रूपकेऽनुकार्याणां स्वयमधिगता[४] भाषा क्रियते, उत निजा, अथवा अन्या। नाधिगता[५], स्त्रीविदूषकादीनां संस्कृतप्रसङ्गात्, नायकादीनां प्राकृतादिप्रसङ्गाच्च[६]। नापि निजा, रामादीनां संस्कृतपाठ्यानुपपत्तेः, तेषां हि उत्तरकोसलादिदेशसंभवत्वात् तत्रत्यैव[७] भाषा परिकल्प्यते, नान्या। तथा च प्रबन्धकर्त्रा यस्य पात्रस्य या यत्र यादृशी भाषा प्रयोजिता, "अनीचानां पुंसां संस्कृतम्" इत्यादि प्रकृत्यानुरूप्येण "कार्यतश्चोत्तमादीनां[८], कार्यो भाषाव्यतिक्रमः" इत्याद्यवस्थानुरूप्येण वा तया तत्र तादृश्या तस्य व्यवहारो युज्यते नान्यया। सिद्धे सत्यारम्भो नियमाय इति न्यायात्।

यदि यह कहते हो कि चूँकि यह विदूषक पात्र सारी भाषाएँ जानता है, वेष बदलने के समय अलग-अलग लोगों के सामने अनेक प्रकार से इसे बोलना होता है, उन अलग-अलग लोगों की अनुकृति में यह (मलयालम्) भाषा यहाँ उचित है, अन्य प्रसंग में वहाँ की भाषा का प्रयोग उचित है। नाटक में समायोजित जो सर्वत्र साधारण भाषा है, उसको तो कहीं छोड़ा नहीं गया है। उसके साथ बीच-बीच में (जिस देश में नाटक हो रहा है, उस) देश की भाषा भी ले ली जाए (तो क्या हानि है?)।

इस विषय में हमारा यह कहना है – फिर यौगन्धरायण का अभिनय करने वाले नट के लिए देशभाषा को स्वीकार क्यों नहीं करते, वह भी तो (विदूषक की तरह) सारी भाषाओं का व्यवहार करता है?

और फिर रूपक में अनुकार्य या पात्रों के लिए जो भाषा उन्होने स्वयं अर्जित की है, उसका प्रयोग होगा, या उनकी अपनी भाषा का (जहाँ पात्र का जन्म हुआ है, या जहाँ का वह निवासी है वहाँ की भाषा का) प्रयोग होगा या अन्य भाषा का। अर्जित भाषा का प्रयोग तो उचित नहीं है, फिर तो स्त्री और विदूषक आदि पात्रों से भी संस्कृत में संवाद बुलवाने पड़ेंगे (क्योंकि स्त्री व विदूषक आदि पात्र भी संस्कृत तो सीखे हुए रहते ही हैं), और नायक आदि (उत्तम श्रेणी के पात्रों) से भी प्राकृत बुलवाई जाने लगेगी (क्योंकि इन नायक आदि पात्रों की भी अर्जित भाषा प्राकृत हो ही सकती है)। पात्र की अपनी भाषा का प्रयोग कराया जाए – यह भी उचित नहीं होगा, क्योंकि तब राम आदि पात्रों के लिए संस्कृत में संवाद कहलवाना अनुचित हो जाएगा, वे (राम आदि) उत्तर कोसल आदि देशों में जन्मे हैं, नाट्यप्रयोग के समय उनके संवादों में वहाँ की स्थानीय भाषा या बोली का प्रयोग कराना पड़ेगा, अन्य का नहीं। और "अनीचानां पुंसां संस्कृतम् (उत्तम श्रेणी के पात्रों के मुख से संस्कृत भाषा का प्रयोग होगा)" इस नियम के अनुसार नाटककार ने जिस पात्र की पात्रानुरूप जैसी भाषा प्रायोजित की है, तथा "कार्यतश्चोत्तमादीनां, कार्यो भाषाव्यतिक्रमः (किसी विशेष प्रयोजन से उत्तम पात्रों का भाषा में व्यतिक्रम हो सकता है)" इस वैकल्पिक विधान के अनुसार कहीं-कहीं दूसरी भाषा का प्रयोग भी कराया जा सकता है। परन्तु (नाटककार ने जिस पात्र के मुख से

---

[४] रूपकेऽनुकार्याणां स्वयमधिगता – P

[५] न अधिगता – P

[६] प्राकृतादिप्रसङ्गात् च – P

[७] तत्रत्या एव – P

[८] *दशरूपक* २.६६।

जिस भाषा का प्रयोग कराया है) उसके अतिरिक्त अन्य भाषा का प्रयोग तो नहीं कराया जा सकता। न्याय (प्रचलित व्यवस्था) यही है कि जो सिद्ध या प्राप्त है, उसके अनुसार आरम्भ किया जाता है (अर्थात् नाटककार ने प्रत्येक पात्र के संवाद जिस भाषा में रचे हैं, वह पात्र नाट्यप्रयोग में उसी भाषा में बोलेगा)।

ननु लोकपरिभाषाविरहे कियदिदं नाट्यं भविता, को वा रसः किमेव जनस्य अवगन्तव्यम्।

तर्हि किमेषैव[९] एव नालम्? किं तेन प्राकृतेन?

एवं नाट्यप्रकर्षविधायिन्यामखिलजनमनोहारिण्यामस्यां भाषायां धरमाणायां किमिति कविना अनीदृशात्मकमत्र भाषान्तरमुट्टङ्कितम्। प्राकृतं नीरसमिति साधीयानेष वादः। यदाप्ताः "प्रकृतिमधुराः प्राकृतधुराः[१०], अहो, तत्प्राकृतं हारि" इत्यादिना श्लाघन्ते। अहो प्रबन्धकृता समायोजितं पाठ्यं नीरसं किल, नाट्यानुपकारकं च; एतत्तु जनपदभाषणं सर्वाकारहारि।

यदि यह कहते हो कि लोक की भाषा को छोड़ देंगे, तो नाटक ही कैसे खेलेंगे, रसास्वाद कैसे होगा, और जनसमाज को अर्थबोध कैसे होगा?

तब फिर सारा का सारा नाटक इसी (लोकभाषा मलयालम्) में क्यों नहीं कर डालते, फिर प्राकृत का भी क्या काम? यह (संस्कृत) नाट्य में प्रकर्ष लाने वाली है, सारे लोगों के मन हरने वाली है, जब यह है तो कवि (नाटककार ने) बिना काम की इन अन्य भाषाओं में नाटक क्यों लिख दिया? और जिस प्राकृत भाषा के विषय में जानकार लोग वह स्वभाव से ही मधुर है, अहो प्राकृत कितनी मनोहर है – इस प्रकार से प्रशंसा करते हैं – वह प्राकृत नीरस भाषा है यह भी तुमने खूब कही! यह भी क्या बात है कि नाटककार ने जिस प्राकृत भाषा में संवाद लिखे हैं, वह तो नीरस हो गई और जनपद की भाषा सबके मन हरने वाली हो गई!

अथैवं[११] ब्रूमो वयम्। किन्तु भाषाद्वयमपि समानम् इति। मैवम्। इह भाषान्तरस्य प्रसङ्ग एव न युज्यते। ततः असद्भूतेन अमुना कथं समानव्यवहारो भवेत्। उभयनिबन्धनं हि सामान्यम्। यदि च एवं किंनिमित्तं नायकादीनां लोकभाषाभेदः स्यात्। तेषामपि एवमेव अस्तु, मा भूत् स्वमुखेन समादानम्।

इस पर पूर्वपक्षी कूडियाट्टम् का नट कहता है – हमारा इसमें कहना यह है कि दोनों ही भाषाएँ हम नाटक प्रयोग करने वालों के लिए बराबर हैं। इसके उत्तर में सिद्धान्तपक्षी कहता है – नहीं, यह भी उचित नहीं। यहाँ अन्य भाषा (लोकभाषा) का कोई प्रसंग ही उचित नहीं बैठता। तो जिसका प्रसंग नहीं, उसे बराबरी पर लाकर व्यवहार कैसे होगा? दोनों (संस्कृत और प्राकृत) को बराबरी पर रखकर नाटक रच रहे हैं तो दोनों का व्यवहार सर्वसामान्य हो जाएगा, तब फिर नायक राम आदि के लिए लोकभाषा की दृष्टि से

---

[९] किम् एषा एव – P

[१०] गिरः श्रव्या भव्याः प्रकृतिमधुराः प्राकृतधुराः
सुभाव्योऽपभ्रंशः सरसवचनं भूतवचनम्।
विदग्धानीष मगधमथुरावासिभणिती
निबद्धा यस्तासां स इह कविराजो विजयते।। – *सरस्वतीकण्ठाभरणे* २.१६

[११] अथ एवं – P

भेद भी क्यों होगा? उनके लिए भी यही हो (उनके भी लोकभाषा में ही संवाद बुलवा दिए जाएं), भले ही ये संवाद वे स्वयं अपने मुख से न बोलें, तो उनके संवाद लोकभाषा में अन्य कोई बोल दे।

ननु

देशभाषाक्रियावेषलक्षणाः स्युः प्रवृत्तयः।
लोकादेवावगम्यैता यथौचित्यं प्रयोजयेत्॥[१२]

इति वचनाद् एवम् अनुष्ठीयते। साधो, इदं वचनं कविकर्तृक-पाठ्ययोजनाविषयम्। यथा

अथवा च्छन्दतः कार्या देशभाषा प्रयोक्तृभिः।
नानादेशसमुत्थं हि काव्यं भवति नाटके॥[१३] इत्येतत्।

यदि कहते हो कि प्रवृत्तियाँ देश, भाषा, क्रिया और वेश इनसे निर्मित होती हैं, और लोक से इन्हें समझकर ही जिसका जैसा औचित्य हो इनका प्रयोग करना चाहिए – (भरतमुनि के) इस वचन के अनुसार हम यह (लोकभाषा का प्रयोग) कर रहे हैं, तो हे साधो, यह वचन कवि द्वारा रचे जाने वाले पाठ्य की योजना के विषय में है। जैसा (आगे भरतमुनि ने इस प्रसंग में कहा भी है) –

अथवा प्रयोक्ता स्वेच्छा से देशभाषा का प्रयोग करें, नाटक का काव्य अलग-अलग देशों की भाषाओं से रचा जाता है।

अथ नाट्यप्रयोगकाले यथौचित्यं देशभाषापरिग्रहो युज्यते इति मनुषे, तदा किं तदौचित्यम् इति वक्तव्यम्। प्रहसनकारित्वमिति[१४] चेत् कः प्रहसनकारी? ननु यस्य लोकभाषावत्वं सः इति चेदन्योन्याश्रयप्रसङ्गः[१५], भाषावत्वेन प्रहसनकारित्वनिश्चयः, प्रहसनकारित्वेन भाषावत्वनिश्चयप्रसङ्ग इति। अथ यस्य वाक्चेष्टादिना हासो भवति स इति चेत् कथं रुमण्वतो लोकभाषणम्?

और यदि नाट्यप्रयोग के समय औचित्य के अनुसार देशभाषा का प्रयोग उचित है – ऐसा तुम मानते हो, तो यह बताना होगा कि वह औचित्य क्या है। यदि कहो कि प्रहसनकारिकत्व (हास्य उत्पन्न करना) औचित्य है, तो प्रश्न है कि प्रहसनकारी है कौन? यदि कहो कि जो लोकभाषा में बोल रहा है, वही प्रहसनकारी है तो अन्योन्याश्रयप्रसंग दोष होता है। (अर्थात्) भाषा के द्वारा प्रहसनकारी होने का निश्चय किया जाएगा, और प्रहसनकारी होने के कारण भाषा का निश्चय भी किया जाएगा। यदि यह कहो कि जिसकी वाणी और चेष्टा से (प्रेक्षकों को) हँसी आए, वही प्रहसनकारी है, तो फिर (*प्रतिज्ञायौगन्धरायण* के प्रयोग में) रुमण्वान् से लोकभाषा में संवाद क्यों बुलवाते हो?

---

[१२] *दशरूपक* २.६३।

[१३] *नाट्यशास्त्र* १७.४७।

[१४] प्रहसनकारित्वम् इति – P

[१५] चेद् अन्योन्याश्रयप्रसङ्गः – P

तदपि वागादिहासकारि औषधकथनविधायामुपलब्धमिति चेन्न[१६]। औषधकथनादिकं लोकभाषाया न खलु। सैव स्वयम् उपपत्तौ[१७] निमित्तं स्यात्। आत्माश्रयस्यान्योन्याश्रयस्य वा प्रसङ्गादितरेतराश्रयापातादित्युक्तम्[१८]। तदीयनाट्यभाषायाः प्रहसनकारित्ववर्णनायां यौगन्धरायणस्यापि लोकभाषाप्रसङ्गः। तत्पाठ्येऽपि कुहचन तथा हासहेतुत्वानपायात्। सर्वतो हासावहवचनत्वं वसन्तकादेरपि न दृश्यते। आकृत्यादिवैकृत्यस्य हेतुतायां वसिष्ठर्षिप्रभृतीनाम् ईदृशभाषित्वप्रसङ्गः। समुदितैतदाकृतिवाग्वेषत्रयवैकृत्यभाजः एवमिति[१९] चेत् तथैव यौगन्धरायणेऽतिप्रसङ्गः।

वह रुमण्वान् का पात्र भी औषध बताने के प्रसंग में लोकभाषा में औषधियों के नाम बताने के कारण हास उत्पन्न करने वाला हमें लगा – यह भी नहीं कह सकते। औषध बताना लोकभाषा द्वारा हो यह आवश्यक नहीं। भाषा ही इस प्रसंग के औचित्य का कारण है, अन्यथा जैसा हमने कहा है आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय इतरेतराश्रय के प्रसंग का दोष उत्पन्न होता है।

और फिर रुमण्वान् की नाट्यभाषा के माध्यम से प्रहसनकारित्व का वर्णन करने पर यौगन्धरायण के लिए लोकभाषा का ही प्रयोग क्यों न करा दिया जाए – यह प्रश्न उठेगा। उसके संवादों में भी इसी प्रकार कहीं-कहीं हास्य हेतु समझा ही जा सकता है। और वसन्तक जैसे विदूषक पात्र के संवादों में भी सर्वत्र हँसी उत्पन्न करने वाले संवाद नहीं होते। आकृति आदि का विकृति को हास का हेतु मानेंगे, तो वसिष्ठ आदि ऋषियों के लिए भी देशभाषा में संवाद रखने पड़ जाएंगे और इसमें आपत्ति होगी। यदि कहते हो कि आकार, वाणी और वेश इन तीनों की विकृति जहाँ हो, वहाँ हास हेतु होता है, और वहाँ देशभाषा का प्रयोग होता है, तब यौगन्धरायण में हासहेतुता और देशभाषा प्रयोग की अतिव्याप्ति होगी – उससे देशभाषा प्रयोग कराना होगा।

तस्य वेषादिकं न विकृतम्, किन्तु स श्रमणस्वभाव[२०] इति। अगम्भीराणाम् इयं लोकभाषा इति चेत् किमयं वसन्तकः उत्तानधीः, रुमण्वदादयः अपि अल्पहृदयाः, चेट्यो गंभीरहृदयाः इति साधु एतत्।

यदि कहो कि यौगन्धरायण का वेश आदि विकृत नहीं है, लेकिन वह श्रमण स्वभाव का है, उसका श्रमण के वेश में स्वभाव तो गम्भीर ही रहता है। लोकभाषा का प्रयोग तो उन पात्रों के लिए है, जो गम्भीर नहीं है, तो प्रश्न यह उठता है कि वसन्तक का पात्र क्या बड़ी उदग्र बुद्धि वाला है, रुमण्वान् आदि छोटे मन वाले हैं, और चेटियाँ क्या गम्भीर मन की हैं – यह तो बड़ी अच्छी बात हुई।

अथ नर्मसचिवानां लोकभाषा इति तावद् ब्रूमः इति कथम् अनर्मसचिवानां रुमण्वदादीनाम् एवं भाषणं स्यात्। ननु नर्मसचिवानां लोकभाषा इति एतावदेवालम्[२१], अनर्मसचिवानां भवतु वा

---

[१६] औषधकथनविधायाम् उपलब्धम् इति चेत्, न – P

[१७] सा एव स्वयम् उपपत्तौ – P

[१८] प्रसङ्गात् इतरेतराश्रयापातात् इत्युक्तम् – P

[१९] एवम् इति – P

[२०] सः श्रमणस्वभावः – P

[२१] एतावदेव अलम् – P

मा वा। बाढम्। तर्ह्यनर्मसचिवानामेतदनुषङ्गे किं निमित्तम्[२२]? अनर्मसचिवत्वम् एव इति चेत्, कथं परस्परविरुद्धौ एतौ धर्मौ एकस्य एव कार्यस्य निमित्तं भवतः?

न हि सास्नावत्वमिवासास्नावत्वमपि[२३] गोव्यवहारनिबन्धनं स्यात्।

यदि यह कहते हो कि नर्मसचिवों (विदूषक आदि पात्रों) की भाषा तो लोकभाषा ही होनी चाहिए तो फिर हमारा कहना है कि अनर्मसचिवों (राजा के मन्त्री, अमात्य आदि) के संवादों में लोकभाषा क्यों? यदि कहो कि नर्मसचिवों की भाषा लोकभाषा रहे, इतना नियम पर्याप्त है, अनर्मसचिवों की भाषा लोकभाषा रहे या न रहे इसमें नाटक खेलने वालों के लिए छूट है – तो ठीक है, परन्तु इसमें फिर प्रश्न आता है कि अनर्मसचिवों के लिए नियम-निर्धारण न करने का कारण क्या है? यदि कहो कि अनर्मसचिवत्व ही कारण है, तो हम कहेंगे कि नर्मसचिवत्व और अनर्मसचिवत्व ये दोनों परस्पर विरुद्ध धर्म हैं – ये दोनों एक कार्य (लोकभाषा का प्रयोग) के निमित्त कैसे हो सकते हैं? सास्ना (गले में लटकती चमड़े की झालर) का होना तथा सास्ना का न होना दोनों एक साथ गो नामक पशु की पहचान नहीं बन सकते।

अथ स्वेच्छया केषाञ्चिदेवं भाषेति[२४] चेद् रामादेरपि भवेत्। अनायकानाममित्थमिति चेत्, कथं चित्रयोधिप्रभृतीनाम्। तस्मात् स्वैरमात्म[२५]मौखर्याविष्करणकौतुकोद्रेकमात्रपर्यवसायी एष देशभाषापरिग्रह इति स्थितम्। एवं पाराशर्यकौण्डिन्यशाण्डिल्यादा[२६] वप्यनुसन्धेयम्[२७]।

यदि यह कहो कि नाटक में कुछ पात्र ऐसे हैं, जिनकी भाषा स्वेच्छा से ऐसी हो सकती है, तो फिर राम आदि पात्रों के लिए भी लोकभाषा का प्रयोग क्यों नहीं करा देते? यदि कहो कि नायक से भिन्न पात्रों के लिए यह विकल्प है, तो फिर योद्धा आदि पात्रों के लिए क्या व्यवस्था होगी? इसलिए कुल मिलाकर सिद्ध यह हुआ कि यह देशभाषा का स्वीकार तो खुल्लमखुल्ला अपनी मूर्खता को सामने लाने के कौतुक मात्र में पर्यवसित होने वाला है। यही बात पाराशर्य (व्यास), कौण्डिन्य, शाण्डिल्य आदि पात्रों को भाषा के विषय में भी समझना चाहिए।

२. शृङ्गाराभासे अनौचित्यम्
(शृङ्गाराभास में वेश्या के साथ ब्राह्मण के सम्बन्ध का अनुचित वर्णन)

यत्पुनरिदं[२८] प्रहसनप्रसङ्गे ब्राह्मणानामन्त्यवर्णस्त्रीप्रापणं व्यावर्ण्यते, तदालोचनीयम्[२९],

---

[२२] तर्हि किम् अनर्मसचिवानाम् एतदनुषङ्गे निमित्तम् – P; अनर्मसचिवानामेतदनुषङ्गे किं निमित्तम् – R

[२३] सास्नावत्वम् इव असास्नावत्वम् अपि – P

[२४] केषांचिद् एवं भाषा इति – P

[२५] स्वैरम् आत्म – P

[२६] पाराशर्य, कौण्डिन्य और शाण्डिल्य – ये विभिन्न रूपकों में विदूषकों के नाम हैं। शाण्डिल्य *भगवदज्जुकम् प्रहसन* में शिष्य का नाम है, जो विदूषकवत् चरण करता है।

[२७] शाण्डिल्यादौ अपि अनुसन्धेयम् – P

[२८] यत्पुनः इदं – P

[२९] तद् आलोचनीयम् – P

ब्राह्मणानां खलु वेश्याप्राप्तिर्न युक्ता। शूद्राप्राप्तिश्च धर्मशास्त्रतः। परस्त्रीप्राप्तिस्तु सर्वेषामेव निषिद्धा। तत्रावश्यम्[३०] एकतरप्रकारवत्यां शूद्रायां मुखजन्मनः प्रसङ्गः अतीव अनुचितः यत् तु "ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः"[३१] इति वचनं तत् कारणान्तरबलात् क्रमपरिणयेन अनूढाविषयम्। एवं सति निर्विशङ्कमेव सज्जनसभामध्ये कथमिवेदमसभ्यमभ्यर्हितकृत्यवप्राणां विप्राणां वृषलयोषासु मदनविकारादिखेलनं समुद्घोष्यते। तदा च केषाञ्चिदेतत् कृत्यमिति[३२] भासेत। न चास्य[३३] यथान्यायं हेयतया समादानं तत्प्रकारप्रदर्शनाभावात्। यद्यपि क्वाप्येतादृशं विचेष्टितमस्ति[३४] तथापि तत् सभायां नानुमोदनमर्हति[३५]। किञ्च क्वचिदेव प्रदेशे यतः कुतश्चित् कारणादुपपलब्धम्[३६] आर्यप्रसिद्ध्यादिवैभवादतीव स्थेमानमुपगतां मर्यादां भङ्क्तुं नालम्[३७]। तथा हि –

सन्ति प्रावृषि पद्मानि कश्मीरेष्विति नाटके।
प्रयुक्तात्राम्बुजोभूतिः न भवेद्विदुषां मुदे॥८४॥

सिंहलद्वीपवृत्तान्तमात्रमालोक्य कः सुधीः।
सहकाराङ्कुरैः स्फारैः घनकालं प्रशंसति॥८५॥

निशा शशाङ्कधवला वर्षाकालेऽत्र जात्विति।
तस्यैवं रचना पद्ये परिहासाय जायते॥८६॥

पत्रवल्लीसमुल्लासि कपोलादि मृगीदृशाम्।
इति प्रयुज्यते काव्ये कुत्रैतदवलोकितम्॥८७॥

प्रकटस्तनबिम्बेऽस्मिन् केरलेष्वबलाजने।
कथं स्तनांशुकादानं नायिकानां वितन्यते॥८८॥

और यह जो प्रहसन के प्रसंग में ब्राह्मणों का अधम वर्ण की स्त्रियों से सम्बन्ध का वर्णन किया जाता है, वह भी विचारणीय है।[३८] ब्राह्मणों का वेश्याओं के पास जाना उचित नहीं है। धर्मशास्त्र के नियमों

---

[३०] तत्र अवश्यम् – P

[३१] *मनुस्मृति* ३.२१३।

[३२] केषाञ्चिद् एतत् कृत्यम् इति – P

[३३] च अस्य – P

[३४] क्वापि एतादृशं विचेष्टितम् अस्ति – P

[३५] न अनुमोदनम् अर्हति – P

[३६] कारणाद् उपपलब्धम् – P

[३७] वैभवादतीव स्थेमानमुपगतां मर्यादां भङ्क्तुं नालम् – P

[३८] कूडियाट्टम् का विदूषक नाटक के आरम्भ में भाग्य की प्रशंसा करता है, फिर पुरुषार्थ का विवेचन करता है। इस प्रसंग में वह विनोदम्, वञ्चनम्, अशनम् तथा राजसेवा – इन चार प्रकरणों को प्रस्तुत करता है। इसमें वह अनधीतीमंगलम् के अन्तर्गत अनपढ़ ब्राह्मणों द्वारा शूद्र वेश्या से रति का वर्णन करता है।

के अनुसार शूद्र स्त्री से उनका सम्बन्ध हो सकता है। परस्त्री से सम्बन्ध तो सभी के लिए निषिद्ध ही है। इसमें भी एक ही प्रकार की शूद्र स्त्री से ब्रह्म के मुख से जन्मे (ब्राह्मणों) का सम्बन्ध तो अवश्य ही अत्यन्त अनुचित है। और जो (धर्मशास्त्र में) "ताश्च स्वा च अग्रजन्मनः (वे शूद्र स्त्रियाँ तथा अपनी पत्नी अग्रजन्मा ब्राह्मण के लिए सम्बन्ध के योग्य हैं)" – यह वचन है, वह अन्य कारण के आधार पर क्रमशः ऐसी स्त्रियों से विवाह करके अविवाहिता स्त्रियों पर लागू होता है। ऐसी स्थिति में निर्विशंक रूप से सज्जनों की सभा के बीच अभ्यर्हित कृत्य की रक्षा करने वाले विप्रों के लिये शूद्रों की स्त्रियों को लेकर कामविकार होने का यह असभ्य कर्म कैसे घोषित किया जा रहा है? ऐसी स्थिति में यह कृत्य किन्हीं (निन्दनीय) लोगों का है – ऐसा प्रतीत होगा। यह भी नहीं कह सकते कि भले ही यह हेय हो, इसका निरूपण करना न्यायोचित है, क्योंकि ऐसा प्रदर्शन किया ही नहीं जाता। यद्यपि कहीं-कहीं (ब्राह्मण) ऐसा विकृत आचरण करते हैं, परन्तु सभ्य समाज में इसका अनुमोदन करना तो उचित नहीं है। और फिर जिस किसी प्रदेश में जिस किसी कारण से होने वाला जो कुछ (आचरण) देखा जाए, वह आर्य जनों की प्रसिद्धि आदि के वैभव से अतीव स्थिर बनी मर्यादा को तोड़ने के लिए पर्याप्त नहीं है। जैसा कहा है –

काश्मीर प्रदेश में वर्षा ऋतु में कमल खिल रहे हैं – यह कहते हुए दिखाया गया है कि कमलों का विकास विद्वानों के लिए प्रमोद का विषय नहीं हो सकता ॥ ८४॥

कौन समझदार होगा जो (वर्षा में आम्रमंजरियाँ फूटने के) सिंहलद्वीप के वृत्तान्त मात्र से वर्षा में आम में मंजरियाँ फूट पड़ी हों – इस तरह वर्षा के समय का वर्णन करने लग जाए? ॥ ८५॥

इसी तरह वर्षा के समय रातें चन्द्रमा की चाँदनी से धवल हैं – यदि कोई कवि ऐसा वर्णन करता है, तो उसकी रचना की हँसाई होती है ॥ ८६॥

मृगनयनी के पत्रवल्ली (गुदनों) से खिले हुए हैं – यदि काव्य में ऐसा वर्णन कवि करते आए हैं, पर लोक में ऐसा कहाँ देखा गया? ॥ ८७॥

कञ्चुक न पहनने के कारण केरल की स्त्रियों के स्तन खुले दिखते हैं, तो फिर इस प्रदेश की नायिकाओं के (विषय में किए जा रहे नाटक में उन्हें बिना स्तनांशुक के ही क्यों नहीं दिखा देते ॥ ८८॥

तस्मात् महाजनप्रवाहप्रसिद्धमेव प्रकटनीयं, नान्यत्[३९]। सभायां पुनः यत्किञ्चित् प्रसङ्गाक्षरमात्रमपि धर्मानुसारि एव साम्प्रतम्, किं पुनर्नाट्ये। एतद्दर्शने हि प्रेक्षकाणां रसामृतानुभूतौ अनुष्ठेयार्थावधारणमपि[४०] आनुषङ्गितया फलं भवति। अत एव उक्तम् –

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्द्धनम्।
हितोपदेशजननं नाट्यमेतद्भविष्यति ॥[४१]

इति। ततः

---

[३९] न अन्यत् – P

[४०] अनुष्ठेयार्थावधारणमपि – P

[४१] *नाट्यशास्त्र* १.११५।

कीर्त्यमानं द्विजस्येदं, शूद्रस्त्रीषु प्रसञ्जनम्।
हा हन्त धर्मशास्त्राणां, मर्माणि विनिकृन्तति॥८९॥

प्रहसनरस ईदृशानुचितवृत्तेनैव[४२] भवति इति किं नियमः प्रत्युत प्रक्षीयते। रसभङ्गनिदानमित्यभिहितं[४३] प्राक्।

इसलिए महाजनों (बड़े लोगों) की परम्परा में जो प्रसिद्ध या प्रचलित है, उसी को नाट्य प्रयोग में प्रकट करना चाहिए, उससे अलग और कुछ नहीं। सभा में भी जो कुछ अक्षर प्रसंगवश कहा जाए, वह धर्म के अनुसार होने पर ही उचित होगा, फिर नाट्य का तो कहना ही क्या! इस दर्शन के अनुसार प्रेक्षकों की रसरूपी अमृत की अनुभूति में जिस प्रसंग का प्रयोग किया जाए, उसकी मन में अवधारणा भी आनुषंगिक रूप से फल बन जाती है। इसीलिये *नाट्यशास्त्र* में कहा है –

यह नाट्य धर्मसम्मत, यश को बढ़ाने वाला, हितकर, बुद्धिवर्धक, हित का उपदेश देने वाला होगा।

तो फिर –

हा हन्त! शूद्र स्त्रियों में ब्राह्मण का इस तरह आसक्ति का प्रसंग नाट्यप्रयोग में बताया जाना धर्मशास्त्रों के मर्म को काटता है॥८९॥

प्रहसन में रस इस तरह के अनुचित वृत्तान्त से ही होता है – क्या ऐसा नियम है? हमारी दृष्टि में तो ऐसे वृत्तान्त से उल्टे रस का क्षय ही होता है। अनौचित्य रसभंग का कारण है – यह पहले कह ही चुके हैं।

३. राजनयप्रतिपादनेन अकाण्डप्रथनम्
(राजनीति के प्रतिपादन द्वारा अकाण्डप्रथन दोष)

अपि च यद् "एकमोदअ" ग्रन्थे महता वाग्जालेन राजनयप्रकटनं क्रियते तत् कस्योपकारकं[४४] भविष्यति। को वा पृच्छति कीदृशो राजा राज्यं पालयेद् इति ? येन –

एवंविधैर्युणैर्युक्तो राजा राजगुणान्वितः।
जितेन्द्रियः सुवृत्तश्च चतुरन्तां महीं जयेत्॥

इति राजवृत्तमुपक्रम्येत। प्रवेशान्तरं वसन्तकः किमकरोत्[४५], किं यौगन्धरायणस्य मनीषितं, कीदृशी वत्सेश्वरावस्था, कथं कृतो मन्त्र इति[४६] प्रेक्षकाणां मनसि विपरिवर्तते। न तु कथं राजनयः इति। न चात्र राजवृत्तिजिज्ञासाविधायी कश्चित् प्रसङ्गः।

---

[४२] प्रहसनरसः ईदृशानुचितवृत्तेनैव – P

[४३] रसभङ्गनिदानम् इत्यभिहितं – P

[४४] कस्य उपकारकं – P

[४५] किम् अकरोत् – P

[४६] मन्त्रः इति – P

और भी – "एकमोदअ"[४७] इसके अभिनय में बातों का जाल फैलाकर जो राजनीति समझाई जा रही है, उससे किसका उपकार होगा (प्रेक्षकों में) भला कौन पूछ रहा है कि राजा कैसे राज्य का पालन करे, जो कि

एवंविधैर्युणैर्युक्तो राजा राजगुणान्वितः।
जितेन्द्रियः सुवृत्तश्च चतुरन्तां महीं जयेत्॥

इस तरह से गुणों से युक्त, राजा के गुणों से युक्त, जितेन्द्रिय और सच्चरित्र रहकर राजा चारों समुद्र के छोरों तक की पृथ्वी को जीत लेता है – यह कहकर राजा के आचरण का बखान आरम्भ कर दिया जाता है। इस प्रसंग में, मंच पर अपने प्रवेश के पश्चात् विदूषक वसन्तक ने क्या किया, यौगन्धरायण का क्या विचार है, वत्सेश्वर (नायक उदयन) की क्या अवस्था है, कैसे यौगन्धरायण आदि ने मन्त्रणा की – यह सब प्रेक्षकों के मन में डोलता रहता है; राजनीति कैसे की जाती है – इस चर्चा में नहीं। और न ही यहाँ राजा के व्यवहार की जिज्ञासा उपस्थित करने वाला कोई प्रसंग ही है।

ननु

षष्ठमंशं गृहीत्वा तु यो भुङ्क्ते स नराधिपः।
अवलग्न इति ख्यातः सर्वेषां प्रीतिवर्द्धनः॥

इत्यस्य पद्यस्य प्रसङ्गे राजनयकथनम्।

धीमन्, इदमेव तावत् किमिति प्रसक्तम्? ननु अवलग्नशब्दस्य अर्थबोधनार्थं तर्हि व्याख्यान-रूपेण इत्येव ब्रूहि। साधु, नाट्यप्रयोगो व्याख्यानेन सह भवति इति चेत्, "शिखिनि शलभो ज्वालाचक्रैः" इत्यादौ शिखिनि अग्नौ इत्यादि पर्यायपदादिकं वादं वादम् एव अभिनेतव्यम्। वाचिकप्रयोगे एव इत्थम् इति[४८] चेत् एकशब्दे ककारस्य द्वित्वम् एकारस्य ह्रस्वत्वम् इत्येवमादि किमिति न व्याक्रियते? व्याख्याने हि पदक्रिया सामाजिकानां पूर्वम् एव[४९] सिद्ध इति कृत्वा अवस्थानुकरण् एव नाट्ये क्रियते। न अतिरिक्तं किञ्चित्। व्याख्याननिर्बन्धे वा अवलग्नशब्देन राजा वक्तुं शक्यः इत्येतावन्मात्रसाध्ये सिद्धे किमिदम् आकाशपातकल्पं राजवृत्तसमुद्घोषणम्।

यदि कहते हो कि

षष्ठमंशं गृहीत्वा तु यो भुङ्क्ते स नराधिपः।
अवलग्न इति ख्यातः सर्वेषां प्रीतिवर्द्धनः॥

जो राजा प्रजा की आय का छठा भाग शुल्क के रूप में लेकर भोग करता है, सबकी प्रीति को बढ़ाने वाला वह अवलग्न कहा जाता है।

इस पद्य के प्रसंग में राजनीति का कथन किया गया है।

---

[४७] मन्त्रांक के प्रयोग में विदूषक मोदक का वर्णन करता हुआ उसके माध्यम से राजनीति के सिद्धान्त समझाने लगता है।

[४८] एव इत्थम् इति – P

[४९] पूर्वम् एव – P

तो हमारा कहना यह है कि हे बुद्धिमान्, यह पद्य ही कहाँ से आ गया? यदि कहते हो कि अवलग्न शब्द का अर्थ समझाने के लिए यह आया है, तो कहना चाहिए कि यह व्याख्यान की दृष्टि से आया है। यह भी बढ़िया बात हुई! यदि नाट्य का प्रयोग इस तरह व्याख्यान के रूप में होने लगेगा, तो "शिखिनि शलभो ज्वालाचक्रैः"[५०] इत्यादि पद्यों में शिखी का अर्थ है अग्नि यह पर्याय बता-बताकर अभिनय करना पड़ेगा। यदि कहते हो कि वाचिक अभिनय के प्रयोग में ही ऐसा किया जाता है, तो फिर किसी शब्द में ककार दो बार आया है, किसी में "ए" ह्रस्व है – इन सबकी भी व्याख्या क्यों नहीं करते? व्याख्यान की दृष्टि से शब्दों के अर्थ तो सामाजिकों के पहले से ज्ञात हैं – यह मानकर नाट्य के प्रयोग में नट द्वारा अवस्थानुकरण भर किया जाता है, उसके अतिरिक्त शब्दों की व्याख्या आदि अन्य कुछ नहीं। व्याख्यान का आग्रह करके अवलग्न शब्द द्वारा राजा का अर्थ निकाला जा सकता है – केवल इतनी बात बताने के लिए यह आकाश को गिराने जैसा राजा के व्यवहार का बखान क्यों?

स्यान्मतम्। इह एकशब्दः प्रधानवाची, प्रधानं च नृपतिः प्रधाननृपतिः, प्रधाननृपतित्वं च गुणगणैः इति प्रसङ्गे के ते इत्याशङ्कायां तत्प्रदर्शनाय राजनयकथनम्। अतस्तात्पर्यवृत्या समानीतमेतदिति[५१]।

मैवम्। अस्मिन् वाक्ये तात्पर्यवृत्याऽवलग्न[५२]-निमित्तकार्यविघाताभावार्थः समानीयते। एकशब्दः पुनरनुवाद्यः, न विधेयः।

नास्ति वाक्यस्य तात्पर्यम् अनुवाद्यदशास्विति।
सर्वेषामेव संवादः शब्दार्थव्यवहारिणाम्॥९०॥

अप्रधानप्रधानार्थावलम्बनेन च वितन्यमानम् अवनिनाथपल्लवनं[५३] तमेव विधेयी कुर्यात्। तद् अत्यन्तम् असाम्प्रतम्[५४] विध्यनुवादव्यत्यासस्य व्यवहारवैरूप्यसम्पादकत्वात्।

पूर्वपक्षी कहता है – यह बखान उचित माना जाना चाहिए क्योंकि यहाँ एक शब्द प्रधान के अर्थ का वाचक है, और प्रधान राजा है, उसकी प्रधानता किन्हीं गुणों के गण (समुदाय) के कारण है, इस प्रसंग में इस गुणों के समुदाय में कौन-कौन से गुण आते हैं – यह प्रश्न आता है, और इसके समाधान के लिए राजनीति का विवरण देना आवश्यक है। अतः यह सारा प्रसंग तात्पर्य वृत्ति से ही लाया गया है।

---

[५०] शिखिनि शलभो ज्वालाचक्रैर्न विक्रियते पतन्
पिबति बहुशः शार्दूलीनां स्तनं मृगशावकः।
स्पृशति कलभः सैंहीं दंष्ट्रां मृणालधिया मुहु-
र्नयति नकुलं निद्रा तन्द्रीं लिहन्नहिपोतकः।।

यह पद्य आश्रमवर्णन में नट के संवाद में कहा जाता है।

[५१] अतः तात्पर्यवृत्या समानीतम् एतद् इति – P

[५२] तात्पर्यवृत्या अवलग्न – P

[५३] वितन्यमानम् अवनिनाथपल्लवनं – P

[५४] तद् अत्यन्तम् असाम्प्रतम् – P

सिद्धान्तपक्षी कहता है – यह कहना भी ठीक नहीं है। इस वाक्य में तात्पर्य वृत्ति से अवलग्न (राजा) के निमित्त से होने वाले कार्यों की क्षति का अभाव व्यक्त किया गया है। एक शब्द यहाँ अनुवादार्थक है, विधेयार्थक नहीं।

अनुवाद्य होने की दशा में वाक्य का तात्पर्य नहीं रह जाता – इस बात को लेकर शब्दार्थ का व्यवहार करने वाले सभी लोगों में एकमत्य है॥९०॥

अप्रधान को प्रधान अर्थ बनाकर उसके सहारे अवनिनाथ या राजा का यह विवरणविस्तार उसी राजा को विधेय बनाएगा, यह अत्यन्त अनुचित होगा, क्योंकि इससे विधि के अनुवाद का व्यत्यास होगा, और सारा व्यवहार गड़बड़ा जाएगा।

किंच इदं राजनयप्रपञ्चनं वत्सराजोद्देशेन वा महासेनोद्देशेन वा राजसामान्योद्देशेन वा। आद्यपक्षे तस्य गजस्नानप्रायता। एवं प्रधानभूतो वत्सपतिः महासेनेन चारके निरुद्ध इत्यपदान्तरमेव[५५] परितोषपदेन प्रतिपादनात्, महासेनसमुत्कर्षसमर्थनं पुनरिह[५६] सामाजिकानां मनसि नातिपरितोषमावहति[५७]।

न च "स्नातस्य यस्य"[५८] इत्यादिवद् इदानीन्तनदुःखावस्थादर्शनात् पुरस्तनोदारावस्थानुस्मरणे-नानुशोचनपरममिदं[५९] षाड्गुण्यवर्णनम्। किं तर्हि महासेनपरितोषकरं प्रतिनायकातिशयार्थं च नायकवर्णनं न युक्तम्। इतरप्रकार एव युक्तः। तदुक्तम् –

वंशवीर्यश्रुतादीनि, वर्णयित्वा रिपोरपि।
तज्जयात् नायकोत्कर्षकथनं च धिनोति नः॥

इति तत्परितोषानुवादस्तु न दोषाय।

और फिर यह राजनीति के प्रपञ्च का प्रतिपादन वत्सराज उदयन को लेकर है या महासेन को लेकर, अथवा सामान्य रूप से सभी राजाओं को लेकर? पहला पक्ष मानें, तो उसकी गजस्नानप्रायता (किए-कराए का मटियामेट होना) हो जाती है[६०], क्योंकि वत्सराज प्रधान है, फिर भी महासेन ने उन्हें बन्दी बना लिया इस वर्णन के तत्काल बाद महासेन के परितोष का कथन कर दिया गया है।

यह भी नहीं कह सकते कि "स्नातस्य यस्य" इत्यादि कथन के समान इस समय की दुःखावस्था को

---

[५५] इति अपदान्तरमेव – P

[५६] पुनः इह – P

[५७] न अतिपरितोम् आवहति – P

[५८] स्नातस्य यस्य समुपस्थितदैवतस्य पुण्याहघोषविरमे पटहा नदन्ति।
तस्यैव कालविभवात् तिथिपूजनेषु दैवप्रमाणचलिता निगडाः स्वनन्ति।। – *यौगन्धरायणे* मन्त्राङ्के २.४

[५९] … नुस्मरणेन अनुशोचनपरम् इदं–P

[६०] गजस्नानप्रायता का आशय है हाथी नदी में स्नान करने के बाद भी अपनी सूँड में धूल मिट्टी लपेटकर उसे अपनी देह पर डालता रहता है, अतः उसका स्नान करना व्यर्थ ही है। इसलिए गजस्नान यह मुहावरा किए-कराए को मटियामेट कर देने के अर्थ में प्रयुक्त है।

देखने के कारण पहले की सुखावस्था के अनुस्मरण के साथ यह षाड्गुण्यवर्णन अनुशोचनपरक (वर्तमान दुरावस्था पर दुःख व्यक्त करने वाला) है। (आपके द्वारा किया गया) नायक के पूर्व के शौर्य तथा राजनीतिक चातुर्य का वर्णन प्रतिनायक के महत्त्व को ही बढ़ाता है, अतः उचित नहीं है। अन्य प्रकार से (प्रतिनायक के शौर्य आदि का वर्णन यदि नायक माहात्म्य बताने के लिए किया जाए, तो वह) उचित है। जैसा कहा ही है – "शत्रु के भी वंश, पराक्रम, ज्ञान आदि का वर्णन करके उस पर नायक की विजय का वर्णन करने से नायक के उत्कर्ष का ही कथन होता है"। इस तरह महासेन के परितोष का कथन किया जाता, तो वह दोष के लिए नहीं होता।

द्वितीयपक्षोऽपि नोपपन्नः[६१]। नायकोत्कर्षसमापादनानुपकारिण्यां प्रतिनायकप्रशंसायाम् आस्थाशैथिल्यात्[६२]।

ननु नायकोच्छेद्यः प्रतिनायकः। न खलु वत्सपतिना प्रद्योतः पर्यभावि। प्रत्युत श्वशुरीयन्नयं[६३] सन्नयः सममानि। तदनयोः कथं विरोधव्यवहारः?

सत्यम्। किं सम्बन्धीभावात् प्राक् प्राचीनवृत्या तयोः विरोधित्वेन भवितव्यम्, परस्पर-परिभवपरत्वात्। न खलु कारागारनिरोधादिकम् उपकारः कन्यापहारादिकं वा। अपकर्तृतां विहाय किमिव शत्रुत्वेन भाव्यम्? कालभेदेन वैरित्वादिव्यत्यासो भवतु। तेन अद्यतनभावस्य नास्तिता[६४] न स्यात्।

महासेन समुत्कर्ष समर्थनरूपी दूसरा पक्ष भी उचित नहीं ठहरता। प्रतिनायक की ऐसी प्रशंसा जो नायक के उत्कर्ष को स्थापित करने में काम न आए, उससे प्रेक्षकों की आस्था शिथिल होती है।

पूर्वपक्षी कह सकता है कि प्रतिनायक का उच्छेद नायक द्वारा हुआ करता है (इसलिए प्रतिनायक के उत्कर्ष का कथन अन्ततः नायक के ही उत्कर्ष का ज्ञापक बनता है)। इसके उत्तर में ग्रन्थकार कहते हैं कि सारे प्रसंग में वत्सराज उदयन ने प्रद्योत (महासेन) को तो हराया ही नहीं। उल्टे महासेन को अपना श्वशुर बनाते हुए अपने बराबर का सम्मान दिया है तो इनमें विरोध का व्यवहार कैसे हो सकता है?

पूर्वपक्षी फिर कहता है – सत्य है। परन्तु सम्बन्धी होने से पहले जो इन दोनों में परस्पर व्यवहार था, उसके आधार पर विरोध होगा क्योंकि उस समय तो ये दोनों एक-दूसरे का परिभव करने पर तुले हुए थे। महासेन द्वारा उदयन को कारागार में बन्द किया जाना या उदयन द्वारा उनकी पुत्री वासवदत्ता का अपहरण – ये दोनों तो एक-दूसरे का उपकार करने वाली बातें नहीं हैं और अपकार करने के अतिरिक्त शत्रुता की बात और क्या हो सकती है?

इसके उत्तर में सिद्धान्तपक्षी कहता है – समय के फेर से दोनों का एक-दूसरे के लिए वैर समाप्त हो गया। जो आज की (बाद वाली) स्थिति है, उसका अस्तित्व नहीं कहा जा रहा, ऐसा नहीं है।

---

[६१] न उपपन्नः – P

[६२] ... प्रशंसायाम् आस्थाशैथिल्यात् – P

[६३] श्वशुरीसन् अयं सन्नयः – P; श्वशुरीयन्नयं सन्नयः – R

[६४] न अस्तिता – P

तृतीयोऽपि न घटनामाढौकते, राजसामान्यस्य प्रसङ्गस्य एव असम्बन्धत्वात्।

एवमेवापि यत्किंचिद्, आदायोदीर्यते यदि।
दशदाडिमवाक्यस्य चिरादुच्छ्वसितं मनः ॥९१॥

अपशब्द एव न परं, नटजनमाश्रित्य हन्त भवति सुखी। विद्वत्प्रवेकसमुदयवित्रस्तोऽसावपार्थोऽपि।

तीसरा पक्ष भी लागू नहीं होता, क्योंकि सामान्य रूप से सब राजाओं के लिए (राजनीति बताने का) किसी प्रसंग का यहाँ सम्बन्ध ही नहीं है।

इस तरह कुछ तो मानकर कुछ भी कह दिया जाएगा, तो दशदाडिम वाक्य से होने वाले उच्छ्वास की तरह बहुत समय तक मन में उच्छ्वास होता रहेगा ॥९१॥

नट जनों के (इस तरह के आचरण से) केवल अपशब्द ही सुखी नहीं होते, विद्वानों के विवेक के समुदय से त्रस्त व अपार्थ भी होते हैं।

४. वसन्तकविहितायां वैद्यनिन्दायामनौचित्यम्
(वसन्तक द्वारा वैद्यों की निन्दा करने में अनौचित्य)

किं च "मा भा आहि" इत्यादि रुमण्वन्नैपथ्यग्रन्थस्य वसन्तकेन यद् वैद्यविज्ञानं क्रियते, "वैद्यः क्रूरो यमः क्रूरः"[६५] इत्यादि तत्कीदृशया विधया समापतितम्। तात्पर्येणेति चेन्न[६६], उपात्तशब्दस्य प्रसङ्गागतार्थे तत्परत्वायोगात्। अत्र हि तादृशवचःश्रवणात् "दिष्ट्येदानीं[६७] सुहृदागतः" इति प्रमोदप्रसङ्गे तदुत्कर्षार्थं "दाहे" इत्यादि भाषापद्यमासाद्य[६८] पानीयवर्णनायाम् एवंविधजलनिवारको वैद्यवराकः इति वैद्यनिन्दार्थो अत्यन्तदूरभूतः।

(यदि) ब्रूयाद् –

एतावतैव विश्रान्तिः, तात्पर्यस्येति किं कृतम्।
यावत्कार्यप्रसारित्वात्, तात्पर्यं न तुलाधृतम्॥[६९] इति।

तत्र किमिदं तात्पर्यं किमियं कियदवधिकं वा इति पृष्टो व्याचष्टाम्।

अथवा नेदृशी चर्चा शैलूषैस्सह सिद्धये।
स्वतो येषां स्थितं हस्ते सामर्थ्यं पदवाक्ययोः ॥९२॥

---

[६५] वैद्यः क्रूरो यमः क्रूरः यमात् क्रूरतरो भिषक्।
यमः प्राणान् हरत्येव वैद्यस्तु सवसूनसून्।। इति पद्यम्।

[६६] तात्पर्येण इति चेत् न – P

[६७] दिष्ट्या इदानीं – P

[६८] भाषापद्यम् आसाद्य – P

[६९] धनिकस्यावलोके

और फिर "मा भा आहि" इत्यादि रुमण्वान् के वेश परिवर्तन के समय कहे गए वाक्य का वसन्तक द्वारा "वैद्यः क्रूरो यमः क्रूरः (वैद्य भी क्रूर होता है, यम भी क्रूर होता है)", इत्यादि वाक्य में जो वैद्य की दृष्टि से ज्ञान कराया गया, वह किस विधा से आ पड़ा है? यदि कहो कि तात्पर्य की विधा से, तो यह कहना ठीक नहीं, तात्पर्य वृत्ति अभिहित या कहे गए शब्द का प्रासंगिक अर्थ ही देती है, मनमाना अर्थ नहीं। यहाँ पर इस तरह का वचन सुनने से "दिष्ट्या इदानीं सुहृदागतः (भाग्य से आज मेरा मित्र आया है)" इस प्रकार से प्रमोद प्रसंग में उस प्रसंग के उत्कर्ष के लिए "दाहे" इत्यादि भाषापद्य लाकर पानी का वर्णन कर दिया और उस वर्णन में इस प्रकार के जल के सेवन का निवारण करने वाला बेचारा वैद्य है – यह सब वैद्य की निन्दा का प्रसंग एकदम अनावश्यक है।

यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि तात्पर्य को यहीं तक क्यों रोक दिया, जहाँ नाटक का प्रसंग है वहाँ तक तात्पर्य को फैला क्यों नहीं दिया?

इसमें तात्पर्य है क्या, कहाँ तक इसका प्रसार है यह पूछने पर बताइए।

अथवा इस तरह की चर्चा इन शैलूषों के साथ करना ही व्यर्थ है, जिनके हाथ में पद और वाक्य का सामर्थ्य स्वतःस्थित है (जो अपना मनमाना अर्थ निकालते रहते हैं) ॥९२॥

५. प्रसङ्गारान्तेण अनवस्थाप्रसक्तिः
(अन्य प्रसंगों को जोड़ने से अनवस्था दोष)

अथ

प्रसङ्गानुप्रसङ्गेन, कुत्र संगच्छते न किम्।
मृत्तिकापि कुलालस्य ब्रह्मविद्यां विगाहते ॥ इति ९३॥

यद्येवं माननीयपानीयगर्हणपरवैद्योपालम्भवदत्रैव[७०] विरहान्तरकान्तासमागमनप्रशंसायामीदृशानन्दसन्दोहकन्दलस्य "विरमत बुधाः योषित्सङ्गाद्"[७१] इत्यादिना निषेधं कुर्वन्ति केचिदिति[७२], शान्तनिन्दा किमिति नोपादीयते[७३]। कस्माद् वा भिषक्प्रतिहस्ततया मन्त्रवादी नाभीष्टूयते[७४]। मन्त्रेण सकलार्थसिद्धिरिति[७५] प्रसङ्गानुप्रसङ्गधावने वा कीदृशं पर्यवसानम्।

और इस तरह एक प्रसंग को दूसरे प्रसंग से मनमाने ढंग से जोड़ देने पर तो कुछ कहीं भी संगत हो सकता है। इस तरह तो कुम्हार की मिट्टी भी ब्रह्मविद्या की बराबरी कर सकती है॥९३॥

यदि ऐसा है कोई माननीय पानीय के गर्हणपरक वैद्य के उपालम्भ के समान यहाँ पर विरह के समाप्त

---

[७०] पालम्भवद् अत्रैव – P

[७१] भर्तृहरेः वैराग्यशतकस्य पद्यम्।

[७२] केचिद् इति – P

[७३] न उपादीयते – P

[७४] न अभिष्टूयते – P

[७५] सकलार्धसिद्धिः इति – P

होने पर कान्ता के समागम की प्रशंसा के प्रसंग में ऐसे आनन्द सन्दोह के अँकुराने के समय "विरमत बुधाः योषित्सङ्गाद् (हे विद्वानों, स्त्रियों के साथ संगति मत करो)" इत्यादि वाक्य द्वारा जो कुछ लोग निषेध करते हैं, तो तुम भी यहाँ शान्त रस की निन्दा क्यों नहीं करते? और वैद्य का छक्का छुड़ाने वाले मन्त्रवादी की स्तुति क्यों नहीं करते? मन्त्र से सम्पूर्ण अर्थ की सिद्धि होती है इस तरह एक प्रसंग से दूसरा प्रसंग जोड़कर बात बढ़ाते रहने से अन्त कहाँ होगा?

शाखाचङ्क्रमणैरेवं, भवान्, साधु हरिर्भवन्।
मन्त्राङ्केऽयङ्गुलीयाङ्कप्रस्थानं न विमुञ्चति॥९४॥

इत्थमङ्गान्यभूतस्य वस्तुनोऽतिप्रपञ्चनम्।
प्रकृतार्थलतामूले कुठारपतनं स्फुटम्॥९५॥

रसमर्माणि विदुषां न नूनं हृदयङ्गमम्।
अतिप्रथनाङ्गस्याप्यत्रानङ्गस्य किं पुनः॥९६॥

यह भी बहुत अच्छा है कि पेड़ की एक डाल से दूसरी डाल पर कूदते हुए आप तो हरि (वानर) हो गए, इस तरह मन्त्रांक से अंगुलीयकांक की ओर प्रस्थान को छोड़ नहीं रहे॥९४॥

इस तरह अंगभूत कथावस्तु से भिन्न अन्य वस्तु का अत्यधिक फैलाव प्रासंगिक अर्थरूपी लता पर स्पष्टरूप से कुठाराघात है॥९५॥

अंगभूत अर्थ का भी अत्यधिक विस्तार करने पर विद्वज्जनों के लिए रस का मर्म हृदयंगम नहीं हो पाता। फिर जो अंग भी नहीं है, उसके अत्यधिक फैलाव की तो बात ही क्या?॥९६॥

६. रुमण्वदभावे प्रयोगस्य अनौचित्यम्
(रुमण्वान् के पात्र को न दिखाने की आलोचना)

यत्पुनः एतद् अग्निप्रवेशादारभ्य रूमण्वता विना प्रयोगविधानं, तत् किंनिमित्तमिति[७६] न प्रतीमः[७७]। न तावद्, अस्य निष्क्रमः कार्यनिरूपणात् प्रागभ्यधायि[७८], किं तर्हि तन्निश्चयस्य पश्चादेव। न चामुष्य मन्त्रस्थानसम्मेलनाभावः। "सर्वे अग्निगृहं प्रविष्टाः" इत्युक्तेः। नापि मन्त्रांशविमुखत्वं "व्यवहारेष्वसाध्यानाम्"[७९] इति तद्वचनोपलब्धेः। न चास्मिन् यौगन्धरायणादेरनास्था[८०], "सखे, रुमण्वन्, स्थिरीक्रियतामात्मा[८१]" इत्यादि दर्शनात्।

---

[७६] किंनिमित्तम् इति – P

[७७] प्रतीमः – P; न प्रतीमः – R

[७८] प्राक् अभ्यधायि – P

[७९] व्यवहारेष्वसाध्यानां लोके वा प्रतिरज्यताम्
प्रभाते दृष्टदोषाणां वैरिणां रजनी भयम्।। इति – *प्रतिज्ञायौगन्धरायणे*

[८०] च अस्मिन् यौगन्धरायणादेः अनास्था – P

[८१] स्थिरीक्रियताम् आत्मा – P

और यह जो (वासवदत्ता के) अग्निप्रवेश से लगाकर बिना रुमण्वान् प्रयोग करने की पद्धति है, उसमें कारण क्या है – यह हम नहीं समझ पाते। यह तो कह नहीं सकते कि इस (रुमण्वान्) का निष्क्रमण कार्य निरूपण के पहले कह दिया गया, क्योंकि वह निष्क्रमण वासवदत्ता के (अग्निप्रवेश का) निश्चय होने के पश्चात् ही होता है। और यह रुमण्वान् (यौगन्धरायण आदि द्वारा की गई) मन्त्रणा के स्थल पर साथ नहीं था ऐसा भी नहीं है, क्योंकि सभी अग्निगृह में प्रवेश करते हैं – ऐसा नाटककार ने वहाँ कहा है। यह भी नहीं कह सकते कि वह मन्त्रणा के समय अलग हो गया, (क्योंकि मन्त्रणा के समय का) "व्यवहारेष्वसाध्यानाम्" – यह संवाद उसका मिलता है। ऐसी बात भी नहीं कि यौगन्धरायण आदि की इस रुमण्वान् के प्रति अनास्था है, "सखे, रूमण्वन्, स्थिरीक्रियताम् आत्मा (मित्र रुमण्वान्, धैर्य धारण करो)" इत्यादि संवाद यौगन्धरायण का रुमण्वान् के प्रति मिलता है।

७. रुमण्वतः उपस्थितेः प्रयोजकत्वम्
(रुमण्वान् की मंच पर उपस्थिति सप्रयोजन है)

ननु अग्निगृहप्रवेशादूर्ध्वं[८२] वस्तुवैचित्र्यं रससोतश्च प्रयोजकत्वाद् यौगन्धरायणवसन्त-कयोरेवावस्थितं[८३], न रुमण्वतीति[८४] तत्पात्रपरित्यागः। तद्ग्रन्थस्तु भाषया कथाकथने परिगृह्यते।

मैवम्। मन्त्रारम्भात् प्रागिवानन्तरं[८५] रुमण्वतो न प्रयोजकत्वमित्यत्र[८६] किं प्रमाणम्? यदीहास्य[८७] प्रयोजकत्वं नह्यभविष्यत् तन्निष्क्रमं कविः स्वयमेवाकथयिष्यत्[८८]। तथा सर्वत्रावलोकनात्[८९]। यावन्निष्क्रमस्याकथनं[९०] तावत् पात्रस्य प्रयोजकत्वमपि[९१] प्रतिपन्नम्।

पूर्वपक्षी का कथन – अग्निगृह में प्रवेश से लगाकर आगे बढ़ने वाली कथावस्तु में वस्तु की विचित्रता और रस का स्रोत प्रयोजक होने के कारण यौगन्धरायण और वसन्तक इन दोनों में ही अवस्थित है, रुमण्वान् में नहीं। इसलिए रुमण्वान् के पात्र का इस प्रसंग में त्याग किया गया। मलयालम् भाषा में जो कथा कही जाती है उसमें रुमण्वान् की उपस्थिति बता दी जाती है।

उत्तरपक्षी का कथन – ऐसा कहना उचित नहीं है। मन्त्रणा के आरम्भ में जिस तरह रुमण्वान् का होना आवश्यक था, उस तरह बाद में नहीं है – ऐसा मान लेने में प्रमाण क्या है? यदि रुमण्वान् की

---

[८२] अग्निगृहप्रवेशाद् ऊर्ध्वं – P

[८३] वसन्तकयोरेव अवस्थितं – P

[८४] रुमण्वति इति – P

[८५] प्राग् इव अनन्तरं – P

[८६] प्रयोजकत्वम् इत्यत्र – P

[८७] यदि इह अस्य – P

[८८] स्वयमेव अकथयिष्यत् – P

[८९] सर्वत्र अवलोकनात् – P

[९०] यावन्निष्क्रमस्य अकथनं – P

[९१] प्रयोजकत्वमपि – P

उपस्थिति का कोई प्रयोजन न होता, तो कवि उसके निष्क्रमण की बात स्वयं ही कह देता। इस तरह की पद्धति सर्वत्र देखी जाती है। जब तक पात्र का निष्क्रमण नहीं बताया जाता, तब तक उसकी उपस्थिति का प्रयोजन है – यह समझना चाहिए।

भाषा चास्मिन्[९२] नाट्यविधौ नटेन प्रयुक्तस्य वाऽप्रयुक्तस्य वा द्वयस्यापि वा। अप्रयुक्तस्य चेत् किं नटप्रयासेन, इयमेवालम्[९३]। एवं तृतीयो दुःस्थ एव। तस्मादनाटितस्यापि[९४] कथमिदं संगच्छते इति न विज्ञायते। तस्य नाटितांशे दुःस्थ एव। आद्यपक्षे अनाटितस्य रुमण्वद्ग्रन्थस्य भाषेति[९५] व्याहृतिः। किञ्च नाटितार्थस्येदं भाषाकथनं पुनरुक्तपङ्क्तौ निविशते। पुनरुक्तं च व्यर्थम्।

इस नाट्य-प्रयोग में भाषा नट के द्वारा प्रायोजित पात्र की हो सकती है, अप्रायोजित पात्र की हो सकती है या दोनों की हो सकती है। यदि अप्रायोजित पात्र की है, तो नट के प्रयास का क्या काम? वह भाषा अपने आप में पर्याप्त है। इसी प्रकार तीसरी स्थिति भी संगत नहीं बैठती। इसलिए जिसका नाट्य नहीं किया गया, उसकी भाषा पर इसकी संगति कैसे बैठेगी यह हम नहीं समझ पा रहे। उसके नाटित अंश पर संगति नहीं बैठती। पहले पक्ष में रुमण्वान् के जिन संवादों का अभिनय नहीं किया गया, उनकी भाषा पर बात उठती है। और नाटित अर्थ को किसी अन्य नट द्वारा अपनी भाषा में कहना पुनरुक्त की श्रेणी में आता है। पुनरुक्ति तो व्यर्थ है।

अथ नैतद्[९६] व्यर्थम् सामाजिकानां सम्यक् कथापरिज्ञानार्थत्वादिति, किं तस्यैव अङ्गतया उत वाद्यस्य अथवा गीतस्य। विचार्यमाणं कस्यचिदपि नोपकारकतामियात्[९७]। पृथग्भूतं चेदं[९८] किमर्थम्? सामाजिकानां सम्यक् कथापरिज्ञानाय इति चेत्, शान्तं पापम्! वाचिकाङ्गिकादिचतुरभिनय-परिपूर्णप्रयोगमहिम्ना कथाशरीरे सचमत्कारमनुभूते प्रमेयपरिज्ञानार्थमिदमित्यहो साधूपन्यस्तम्[९९]! प्रत्युत च एषः भाषापरिग्रहः प्रेक्षकाणां निन्दाप्रकारताम् आविशेत्, भोः साधवः एतावत्कालं प्रयुक्तमिदं न खलु युष्माभिरवगतं, तदहं बोधयामीत्ययमुपक्रम इति[१००] प्रतीतेः।

यदि कहो कि व्यर्थ नहीं है, क्योंकि इससे सामाजिकों को कथा का अच्छी तरह ज्ञान हो जाता है, तो प्रश्न है कि यह कथा का ज्ञान उसी कथा के अंग के रूप में होता है या वाद्य अथवा गीत के अंग के रूप में? विचार करने पर यह किसी का भी उपकारक नहीं बन पाता। यदि यह अलग से कराया जाता है, तो इसकी

---

[९२] च अस्मिन् – P

[९३] इयमेव अलम् – P

[९४] तस्माद् अनाटितस्य आपि – P

[९५] भाषा इति – P

[९६] न एतद् – P

[९७] न उपकारकताम् इयात् – P

[९८] च इदम् – P

[९९] सचमत्कारमनुभूते प्रमेयपरिज्ञानार्थमिदमित्यहो साधु उपन्यस्तम् – P

[१००] प्रयुक्तम् इदं न खलु युष्माभिः अवगतं, तदहं बोधयामि इत्ययम् उपक्रमः इति – P

आवश्यकता ही क्या यदि कहो कि यह सामाजिकों को और भी अच्छी तरह पूरी-पूरी कथा का ज्ञान हो सके इसके लिए है – तो हम कहेंगे कि पाप शान्त हो! वाचिक, आंगिक आदि चार प्रकार के अभिनयों से परिपूर्ण प्रयोग की महिमा से जब सारी कथा का चमत्कारपूर्वक अनुभव कराया जा रहा है तो प्रमेय (कथावस्तु) के परिज्ञान के लिए यह आपने अच्छी बात कही! उल्टे इस तरह भाषा में उसे समझाने की प्रेक्षक निन्दा करेंगे, वे कहेंगे कि हे सज्जनों, इतने समय से इसी का तो हम अभिनय देख रहे थे, हमने इसे समझ लिया, उसी को आप फिर समझा रहे हैं!

इयमपरा[१०१] महती विडम्बना। एतादृशी भाषाकथने दुःखादिखण्डानुसारेण स्वरविशेषादानं क्रियते। किं नु खलु एष भाषाभाषिताऽपि[१०२] अनुकर्ता भवति, अथवा गायको, येन एवं स्वरपरिग्रहाग्रहो जागर्ति? तथा सति किं वेषभावादौ तालस्थितौ वा समुपेक्षणम्। कथाव्यवहारे तु स्वरानुबन्धो न किंचिदुपयोगी।

इत्थं भाषाभिलाषः प्रयोजनविपक्षकक्ष्यापक्षपक्षपाती इति निरधारि। तस्मादिह[१०३] रूमण्वत्पात्रवैमुख्यं किमपि स्वैराचरणमिति स्थितम्। एवंविधोऽन्यत्रापि[१०४] स्वेच्छासमुल्लासः सुलक्षः।

और यह एक और बड़ी विडम्बना है – इस तरह के भाषाकथन में दुःख आदि के प्रसंग में विशेष प्रकार का स्वर लगाया जाता है। तो क्या यह भाषा में कथन करने वाला भी अनुकर्ता बन जाता है या वह गायक होता है, जिसके कारण यह स्वर लगाया जा रहा है? वैसी स्थिति में फिर उसका वेश और भाव भी जिस पात्र का अनुकरण कर रहा है उसी का क्यों नहीं कर देते और ताल की स्थिति की ही उपेक्षा क्यों? यदि कथा ही बताना है तो स्वर लगाने का कुछ उपयोग नहीं है।

इस तरह यह भाषा का प्रयोग प्रयोजन के विपरीत हो जाता है यह निष्कर्ष निकला। इसलिए इस प्रसंग में नट जो कुछ करते हैं, वह रुमण्वान् के पात्र के विपरीत उनकी मनमानी है। इस तरह की मनमानी इनकी अन्यत्र भी खूब देखी जाती है।

---

[१०१] इयम् अपरा – P

[१०२] भाषाभाषिता अपि – P

[१०३] तस्माद् इह – P

[१०४] एवंविधो अन्यत्रापि – P

षष्ठः अङ्कुशः (षष्ठ अंकुश)

उक्तपात्राणामप्रवेशः
(सूचित कर दिए गए पात्रों का प्रवेश न कराना)

१. गायिकया श्लोकगानयोजनायामनौचित्यम्
(प्रयोग के बीच में गायिका के श्लोक-गायन को जोड़ने में अनौचित्य)

यत्पुनः मध्ये मध्ये गायिकायाः श्लोकोदीरणं तत् किमर्थं स्यात्। अथ गानार्थमिदम्[१]। गीतात्मा श्लोक इति चेत् तर्हि –

"वरडिण्डकवेषविभूषणवानुरुदण्डधरो भसिताच्छतनुः।
मृदुभस्मकपुण्ड्रकमण्डनवान्, विशतीह वसन्तक एष कृती॥"

इत्यादिवदस्यापि तालल्यानुसारित्वमस्तु[२], मा चास्तु "मैनाकं नागकन्ये"त्यादि पाठ्यपठितिवत् मार्जनावर्जननिर्बन्धो अर्थाभिनयो वा।

तर्हि भवतु पाठ्यात्मा इति चेन्न[३], भिन्नप्रयोक्तृत्वात्। पाठ्यस्य आश्रयो गायिका, आङ्गिकादेर्नट इति[४] कोऽयं नयः। स्वकीयपाठ्यस्य अन्योदीरणमपि[५] न पेशलम्।

यह जो बीच-बीच में गायिका का श्लोक बोलने लग जाना है – यह किसलिए? यदि कहते हो कि यह गान के लिए है, क्योंकि श्लोक गीतात्मक ही होता है, तो यहना ठीक नहीं, क्योंकि –

"वरडिण्डकवेषविभूषणवानुरुदण्डधरो भसिताच्छतनुः।
मृदुभस्मकपुण्ड्रकमण्डनवान्, विशतीह वसन्तक एष कृती॥"[६]

सुन्दर शुभ्र विभूषण धारण किए हुए, विशाल डण्डा लिए हुए, भस्म से शुभ्र देह वाला, हल्का सा भस्म के त्रिपुण्ड का मण्डन लगाए – यह कृती वसन्तक प्रवेश करता है।

इस श्लोक का भी फिर ताल और लय के साथ गान हो जाए, "मैनाकं नागकन्ये" – इत्यादि श्लोक के समान बिना मार्जना के किया जाने वाला केवल पाठ और अर्थाभिनय रहने दिया जाए।

---

[१] गानार्थम् इदम् – P

[२] इत्यादिवद् अस्यापि तालल्यानुसारित्वम अस्तु – P

[३] चेत् न – P

[४] आङ्गिकादेः नटः इति – P

[५] अन्योदीरणम् अपि – P

[६] विदूषक के प्रवेश के पूर्व नाण्यार द्वारा पठित पाँच श्लोकों में से पहला श्लोक। इन श्लोकों को कूडियाट्टम् में अक्कित्त कहा जाता है। इसे आळामश्लोक कहा जाता है। इसके साथ नाण्यार तट्टु नामक नृत्यक्रिया भी करता है।

यदि कहते हो कि ("वरडिण्डकवेषविभूषण... " इत्यादि) श्लोक के (गान को) पाठ ही मान लिया जाए तो यह कहना भी ठीक नहीं। क्योंकि (पाठ और अभिनय के) प्रयोक्ता अलग-अलग हैं। पाठ्य का आश्रय गायिका है, आंगिक आदि अभिनय का आश्रय नट है। ऐसी स्थिति में यह (नट से सम्बद्ध श्लोक का गान गायिका से कराना) कौन सी नीति है? अपने पाठ का अन्य द्वारा कथन सुन्दर नहीं लगता।

अथ प्रस्तुतसमर्थकोऽयमभियुक्तसंवादः[७]। एतावदिदं मया प्रतिपादितं न स्वकपोलकल्पितं, किं तर्हि आप्तानामपि भवितव्यम्, तस्य तत्स्वाभाव्यात्। इतरथा स्वप्रतिपादनान्तर्भावः एव भवति।

तथा सति आङ्गिकादिभिः सामानाधिकरण्यं साम्प्रतम्। तस्माद् यत्किञ्चिदेतत्[८]।

यदि यह कहते हो कि यह अभियुक्त संवाद प्रस्तुत प्रसंग के समर्थन के लिए है। यह जो मैं कह चुका हूँ, वह मेरा कपोलकल्पित नहीं, यह आप्त (विश्वसनीय) लोगों द्वारा भी मान्य है, क्योंकि उसकी प्रकृति ही मानने योग्य है। अन्यथा नट के प्रतिपादन में वह समाविष्ट हो जाता है।

ऐसी स्थिति में नट के आंगिक आदि अभिनयों तथा श्लोक के पाठ का सामानाधिकरण्य (एक आधार होना) मानना पड़ेगा। इसलिए यह (अभिनय तथा पाठ को अलग-अलग करना) कुछ तो (ऊलजलूल बात) है।

२. सीताप्रवेशाप्रवेशपर्यालोचनम्
(सीता के कहीं प्रवेश और कहीं प्रवेश न कराने की समीक्षा)

यश्च एष सीतायाः क्वचिदप्रवेशः क्वचिदसम्यक्प्रवेशश्च[९] तत्र किं निमित्तम्?

क्व असम्यक्प्रवेशः? अङ्गुलीयाङ्के। कथं, वाचिकस्य उत्तरीयमात्रनेपथ्यस्य[१०] च ग्रहणात् प्रवेशः। शेषनेपथ्यस्य आङ्गिकादेश्च[११] परित्यागात् तस्यासम्यक्त्वम्[१२]। गायिका खलु उत्तरीयं गृहीत्वा "तदो तदो" (इति) भाषिणी दृश्यते। तत् किं सीताभावे। नेति चेदथ किम्[१३]? न नूनं गायिकायाः स्वभावे। न तदोत्तरीयधारणं[१४] प्राकृतभाषणं च घटते, सीताभावेन तु घटते। अन्यथा "आज्ञापयत् सीतादेवी" इति भाषाकारिकवचनमपि नापद्येत[१५]। तस्मात् तथा आसीना वदन्ती सीता एव।

---

[७] प्रस्तुतसमर्थको अयम् अभियुक्तसंवादः – P

[८] यत्किञ्चित् एतत् – P

[९] क्वचिद् अप्रवेशः क्वचिद् असम्यक्प्रवेशः च – P

[१०] वाचिकस्य उत्तरीयमात्रनेपथ्यस्य – P

[११] आङ्गिकादेः च – P

[१२] तस्य असम्यक्त्वम् – P

[१३] न इति चेत्, अथ किम् – P

[१४] तदा उत्तरीयधारणं – P

[१५] भाषाकारिकवचनम् अपि न आपद्येत – P

और यह जो सीता का कहीं तो प्रवेश ही नहीं दिखाया जाता, और कहीं प्रवेश ठीक से नहीं दिखाया जाता इसमें क्या कारण है?

पूर्वपक्षी पूछता है – ठीक से प्रवेश कहाँ नहीं दिखाया गया? (उत्तर) – अंगुलीयकांक में। (पूर्वपक्षी का प्रश्न) – सो कैसे? (उत्तर) – वाचिक के साथ सीता उत्तरीय मात्र धारण किए प्रवेश करती हैं। (उत्तरीय के अतिरिक्त) शेष नेपथ्य तथा आंगिक आदि अभिनयों का परित्याग करने के कारण ठीक से प्रवेश नहीं कहा जा सकता। गायिका ही उत्तरीय पकड़कर "तदो तदो" (ततस्ततः) यह कहती दिखाई देती है। तो यह क्या उसका सीताभाव है? यदि कहते हो कि नहीं, तो फिर यह है क्या? गायिका यदि स्वभाव (गायिका के भाव) में ही रहती है, तो उसका उत्तरीय धारण करना और प्राकृत भाषा में बोलने लग जाना समीचीन नहीं है, वह सीताभाव में रहे, तभी यह समीचीन कहा जा सकता है।

अन्यथा "आज्ञापयत् सीतादेवी (सीता देवी ने आज्ञा दी)" यह भाषाकारिक का यह वचन भी समुचित नहीं रह जाएगा। इसलिए उस तरह बैठी हुई और संवाद बोलती गायिका सीता ही है यह मानना पड़ेगा।[१६]

ननु च नायं सीताप्रवेशः। तथा सति प्रथमं वेषोपादानं कर्तव्यम्। प्रावेशिक्या मार्जनया च भवितव्यम्। जवनिकाप्यापेक्षणीया[१७]।

सत्यम्। एतत्तु सर्वं किमित्युपेक्ष्यते[१८] इति पृच्छामः। अप्रवेशादिति चेत् किं पुनस्तद् इति वक्तव्यम्, यदेतदुत्तरीय[१९]-वाचिकग्रहणेन गायिकावस्थानम्।

(पूर्वपक्षी कहता है) – यह वास्तव सीता-प्रवेश है ही नहीं। क्योंकि सीता-प्रवेश होता तो पहले वेश धारण कराना पड़ता, प्रावेशिकी और मार्जना करानी पड़ती। जवनिका का प्रयोग भी अपेक्षित हो जाता।

(उत्तरपक्षी का कथन) – सत्य है। परन्तु यही तो हम पूछ रहे हैं कि इस सब (वेशधारण, प्रावेशिकी और मार्जना तथा जवनिका के प्रयोग) की उपेक्षा क्यों की जा रही है? यदि कहते हो कि प्रवेश वास्तव में हुआ ही नहीं है इसलिए उपेक्षा की जा रही है, तो यह बताना होगा कि यह सीता का उत्तरीय धारण करके सीता के ही संवाद का गायिका द्वारा गायन है क्या?

३. अयोनिजायाः प्रवेशस्य औचित्यपरीक्षणम्
(अयोनिजा के प्रवेश के प्रश्न पर विचार)

ननु सीतायाः क्वचिदपि न प्रवेशः अयोनिजत्वात्।

---

[१६] *आश्चर्यचूड़ामणि* नाटक के हनुमत्–सीता संवाद के प्रकरण का अभिनय कूडियाट्टम् के चाक्यार विलक्षण पद्धति से करते हैं, जिसे कूटिचोल्लुक कहा जाता है। इसमें हनुमान् का अभिनय करने वाला चाक्यार आहार्य धारण किए रहता है, परन्तु सीता का पात्र मंच पर नहीं रहता, उसके स्थान पर कुतप में बैठी गायिका उसके संवाद बोल देती है और सूत्रधार हनुमान् तथा सीता के संवादों का अनुवाद करता चलता है।

[१७] यवनिका अपि अपेक्षणीया – P; जवनिकाप्यापेक्षणीया – R

[१८] किमिति उपेक्ष्यते – P

[१९] अप्रवेशात् इति चेत् किं पुनः तद् यद् एतदुत्तरीय… – P

नैतद्, अयोनिजायाः अपि मेनकायाः प्रवेशसंदर्शनात्। अयोनिजत्वे सति नायकपरिग्रहत्वादस्याः न प्रवेशः द्रौपदीवदिति[२०] चेत् तर्हि एवमपि वक्तुं न शक्यते।

सुभद्रायाः प्रवेशो न युक्तो योनिजत्वाद् इति। अथ योनिजत्वं अत्र न हेतुः प्रतिहारिकादिनां प्रवेशदर्शनादिति[२१] चेद् योनिजत्वे सति नायकपरिग्रहत्वात् मलयवत्यादिवद् इति[२२] ब्रूमः। नैतद् युक्तम्, मलयवत्याः प्रवेशादिति[२३] चेत् तत्रापि एवं वक्तव्यम् मलयवत्याः प्रवेशो न युक्तो योनिजत्वे सति नायकपरिग्रहत्वात् सुभद्रादिवद् इति दृष्टान्ते अन्योन्याश्रयत्वमिति चेदयोनिजत्वेन सीताद्रौपद्योः परस्परं प्रवेशाभावसमर्थनेऽपि[२४] एवमेव सति समः समाधिः।

(पूर्वपक्षी दूसरा प्रश्न उठाते हुए कहता है) – सीता का तो कहीं भी प्रवेश हो ही नहीं सकता, क्योंकि वे अयोनिजा हैं। (उत्तरपक्षी का आक्षेप) – यह कहना उचित नहीं है। क्योंकि मेनका भी अयोनिजा है, उसका मंच पर प्रवेश कराया जाता है।[२५] यदि कहते हो कि अयोनिजा होते हुए नायक द्वारा उसका परिग्रह कर लिया गया, अतः इसका प्रवेश उचित नहीं, जिस तरह द्रौपदी का, तब तो फिर सुभद्रा का प्रवेश भी योनिजा होने के कारण अनुचित हो जाएगा।[२६] यदि कहते हो कि योनिजा होना यहाँ अप्रवेश का कारण नहीं बन सकता क्योंकि योनिजा प्रतिहारियों का भी प्रवेश देखा जाता है। तो इसके उत्तर में हमारा कथन है – योनिजा होते हुए नायक द्वारा परिग्रह कर लिए जाने से मलयवती आदि के समान प्रवेश नहीं हो सकता। यदि कहते हो कि यह कथन असत्य है क्योंकि मलयवती का तो प्रवेश होता है, तो वहाँ यह कहना होगा कि फिर मलयवती का प्रवेश भी उचित नहीं है, क्योंकि योनिजा होते हुए नायक द्वारा उसका परिग्रह किया गया है, जैसे सुभद्रा का। यदि कहते हो कि इस दृष्टान्त में अन्योन्याश्रय दोष है। तो अयोनिजा होने पर सीता और द्रौपदी दोनों के प्रवेश न होने के समर्थन में भी वही दोष है, अतः समान दूषण हो जाता है।

नात्र[२७] समाधिसाम्यम्, सुभद्रादिप्रवेशः क्रियते, सीतादिप्रवेशो न क्रियते इति चेत्, किं तत्र कारणमिति[२८] खलु अनुयुज्यते।

अस्ति किञ्चित् प्रयोगप्रस्थानम्। किं तत्? । स्त्रीणां प्रवेशो न युक्त इति वा सीतायाः प्रवेशो न युक्त इति वा? नाद्यः[२९]। सुभद्रादिप्रवेशाङ्गीकारात्। द्वितीये पुनरयोनिजत्वं तद्विशिष्टनायकपरिग्रहत्वं

---

[२०] परिग्रहत्वाद् अस्याः न प्रवेशः द्रौपदीवद् इति – P

[२१] प्रवेशदर्शनाद् इति – P

[२२] मलयवत्यादिवद् इति – P

[२३] प्रवेशाद् इति – P

[२४] अन्योन्याश्रयत्वम् इति चेद्, अयोनिजत्वेन सीताद्रौपद्योः परस्परं प्रवेशाभावसमर्थने अपि – P

[२५] कुलशेखर वर्मन् के *तपतीसंवरण* नाटक में मेनका का प्रवेश है।

[२६] कुलशेखर वर्मन् के *सुभद्राधनञ्जय* नाटक में मेनका का प्रवेश है।

[२७] न अत्र – P

[२८] कारणम् इति – P

[२९] न आद्यः – P

चाप्रयोजकमित्यभिहितम्[३०]। तस्मात् प्रयोगप्रस्थानमिति[३१] वञ्चनामात्रमेतत्। एवं योनिजत्वमयोजनित्वं वा प्रवेशाप्रवेशयोर्न कारणमिति[३२] इति स्थितम्।

यदि कहते हो कि समान दूषण नहीं है, क्योंकि सुभद्रा आदि का तो प्रवेश कराया जाता है, सीता आदि का नहीं। तो हमारा कहना है कि वही तो हम पूछ रहे हैं कि सीता का प्रवेश न कराने के पीछे कारण क्या है? (पूर्वपक्षी इसके उत्तर में कहता है) – हमारे प्रयोग का यह एक विशेष प्रस्थान है।

उत्तरपक्षी पूछता है – वह प्रस्थान क्या है?

पूर्वपक्षी का उत्तर – स्त्रियों का प्रवेश उचित नहीं है अथवा सीता का प्रवेश उचित नहीं है। (यही प्रस्थान है)।

उतरपक्षी का आक्षेप – पहली बात तो ठीक नहीं है, क्योंकि सुभद्रा आदि का प्रवेश कराया जाता है यह तुमने ही स्वीकार कर लिया। दूसरे पक्ष में अयोनिजा होना और विशिष्ट नायक द्वारा सीता का परिग्रह किया जाना प्रयोजक नहीं हो सकता यह कहा है। इसलिए (यह हमारे) प्रयोग का एक प्रस्थान है – यह कहना वञ्चनामात्र है। ऐसी स्थिति में यह निष्कर्ष निकलता है कि किसी नायिका का अयोनिजा होना या योनिजा होना उसके प्रवेश या अप्रवेश का हेतु नहीं बन सकता।

अथ महानुभावत्वात् सीतादेः प्रवेशे भीतिर्भवतीति[३३]। तर्हि कथं देवीमहात्म्यादिनटने कात्यायन्यनुकरणे सा न भवति। आहार्यस्य दुर्ज्ञानत्वादस्या न[३४] प्रवेश इति चेत्, किं विद्यमानमिदं न ज्ञायते उताविद्यमानम्[३५]? द्वितीये अविद्यमानताया एव किं कारणम्? न अयोनिजत्वं मेनकादीनामाहार्यसद्भावदर्शनात्[३६]। न च अस्याः विदेहराजदुहितुरनुकरणानर्हता सर्वेषामप्यनुकार्यत्वात्[३७]।

न ते नराः न ते दिव्याः न ते मिश्राश्च वस्तुतः।
ये नाट्ये नानुकार्याः स्युः, वेषभाषाक्रियादिभिः॥

यदि कहते हो कि महानुभावता के कारण सीता आदि का प्रवेश दिखाने में भय होता है। तब फिर *देवीमाहात्म्य* आदि के अभिनटन में या कात्यायनी के अनुसरण में वह भय क्यों नहीं होता?[३८] यदि कहते हो कि (सीता का) आहार्य कठिनाई से ज्ञेय है, इसलिए उनका प्रवेश नहीं कराया जाता। तो प्रश्न उठता है कि

---

[३०] पुनः अयोनिजत्वं तद्विशिष्टनायकपरिग्रहत्वं च अप्रयोजकम् इत्यभिहितम् – P

[३१] प्रयोगप्रस्थानमिति – P

[३२] योनिजत्वम् अयोजनित्वं वा प्रवेशाप्रवेशयोः न कारणम् इति – P

[३३] भीतिः भवति इति – P

[३४] दुर्ज्ञानत्वाद् अस्याः न – P

[३५] विद्यमानम् इदं न ज्ञायते उत अविद्यमानम् – P

[३६] मेनकादीनाम् आहार्यसद्भावदर्शनात् – P

[३७] विदेहराजदुहितुः अनुकरणानर्हता सर्वेषाम् अपि अनुकार्यत्वात् – P

[३८] *नटाङ्कुश* जिस समय लिखा गया, उस समय तक *देवीमाहात्म्य* नामक कोई प्रस्तुति चाक्यारों द्वारा की जाती थी, जिसमें कात्यायनी का अभिनय होता था। बारहवीं शताब्दी के तिरुवल्ल ताम्रपत्र में इसका उल्लेख आया है।

वह आहार्य सामने विद्यमान हो, तब समझने में कठिन होता है या समझ में नहीं आता इसलिए प्रवेश ही नहीं कराया जाता, द्वितीय पक्ष में अविद्यमानता का ही क्या कारण है? मेनका आदि का अयोनिजा होना उनके अप्रवेश का कारण नहीं हुआ, क्योंकि उनका आहार्य सामने रहता है। इसी तरह विदेहराज की पुत्री सीता का मंच पर अनुकरण नहीं हो सकता – यह कहना उचित नहीं, क्योंकि सभी पात्र अनुकरण योग्य ही होते हैं।

न ते नराः न ते दिव्याः न ते मिश्राश्च वस्तुतः।
ये नाट्ये नानुकार्याः स्युः, वेषभाषाक्रियादिभिः॥

ऐसा कोई मनुष्य, देवता या अर्द्धदिव्य पात्र नहीं हो सकता, जो वेश, भाषा और क्रिया द्वारा नाट्य में अनुकार्य न हो सके।

विद्यमानस्य पुनराहार्यस्य अज्ञाने नाट्यमूढत्वमेव[३९] समापतेत्। नाट्यज्ञो हि सकलदेशभाषा-दिविकल्पविज्ञानवैभवभावोद्भासी भवितुमर्हति। अत एवोक्तम्[४०]।

देशजातिविधानेन शेषाणामपि लक्ष्यते।
वेषं तथा चाभरणं नानावस्थावन्तराश्रयम्॥९७॥

अन्यासां मानुषीणां च दिव्यानां च नतभ्रुवाम्।
पार्यते ज्ञातुमाहार्यं मैथिल्या नेति किंन्विदम्॥९८॥

अस्याश्च वेष विज्ञाने पृथग्यत्नो न सम्भवेत्।
एक प्रकारं नेपश्यं येनेह नृपयोषिताम्॥९९॥

वनवासे वियोगे वा तदवस्थानुरूपातः।
आकाङ्क्ष्यते चेन्नेपथ्यं, तच्च न स्यात्सुदुर्लभम्॥१००॥

स्फुटं जटावल्कलवान्, वेषो न खलु गृह्यते।
वनमावसतोरत्र रामलक्ष्मणयोरपि॥१०१॥

प्रियविश्लेषसंतापमुर्मुरीभूतचेतसाम्।
कुरङ्गीप्रभृतीनां किं, नास्त्येवाकल्पकल्पना॥१०२॥

जब आहार्य विद्यमान हो, तो उसका ज्ञान न होना नाट्यमूढता कही जाएगी। नाट्य के ज्ञाता को तो सभी देशों, सभी भाषाओं के भेदों की जानकारी वैभव के भाव से उद्भासित होनी चाहिए। इसीलिए कहा है –

देश और जाति के विधान से जैसे एक पात्र की वेशभूषा तथा विविध अवस्थाएँ पहचानी जाती हैं, वैसे ही शेष पात्रों की भी॥९७॥

जब झुकी भौंहों वाली अन्य मानुषियों तथा देवियों का आहार्य जाना जा सकता है, परन्तु सीता का नहीं जाना जा सकता – यह क्या बात हुई?॥९८॥

---

[३९] नाट्यमूढत्वम् एव – P

[४०] एव उक्तम् – P

इसके वेष को जानने के लिए अलग से यत्न की आवश्यकता नहीं, क्योंकि रानियों का नेपथ्य एक जैसा होता है॥९९॥

चाहे वनवास हो या वियोग, सीता के पात्र की अवस्था के अनुरूप यदि उसे नेपथ्य धारण कराया जाएगा, तो वह दुर्लभ नहीं होगा॥१००॥

वनवासी राम और लक्ष्मण को भी पूरी तरह जटा और वल्कल वाला वेश धारण नहीं कराया जाता, प्रिय के वियोग के ताप से उष्ण मन वाली कुरंगी[४१] आदि पात्रों के लिए क्या वेश की कल्पना नहीं की गई?॥१०१-०२॥

किञ्चायोनिजत्वेनापरिच्छेद्यस्वभावत्वादस्या वेषो नावधार्यत इति[४२] चेत् कथं पाठ्यं प्राकृतमित्यवधारितं[४३], यत् "तदो तदो" इत्यादि गायिकामुखेन परिगृह्यते। सुभद्रादिवदमुष्या अपि तादृशभाषा युक्तेति[४४] चेत् तथैव आकल्पोपि किं न युज्यते।

यदि कहते हो कि सीता तो अयोनिजा है, अतः उनका स्वभाव अपरिच्छेद्य है, इसलिए उनके वेश का निर्धारण नहीं किया जा सकता। तब फिर इनका पाठ्य प्राकृत कैसे निर्धारित कर लिया, जो सीता के पात्र के लिए (प्राकृत में) "तदो तदो" यह वचन कहलाए जा रहे हैं? यदि कहते हो कि जिस तरह सुभद्रा के पात्र के लिए वैसी भाषा का प्रयोग कराया गया, वैसा ही सीता के पात्र के लिए, तब फिर सुभद्रा के पात्र की तरह सीता के पात्र का भी परिधान क्यों नहीं?

नेपथ्यं न परिच्छिन्नं, सीतायाः स्वयमुद्भवात्।
पाठ्यं पुनः परिच्छिन्नमिति[४५] स्यादर्धवैशसम्॥१०३॥

वाचिकग्रहणे सैषा योनिजा परिकल्पिता।
अयोनिजैव नेपथ्यवैमुख्ये पश्य कौतुकम्॥१०४॥

सीता अयोनिजा है, अतः उसके नेपथ्य का निर्धारण नहीं हो सकता, परन्तु पाठ्य का हो सकता है – यह तो परस्पर विरोधी बात है। वाचिक के प्रयोग में तो सीता को योनिजा मान लिया, और नेपथ्य नहीं कराना था, तो उनको अयोनिजा मान लिया – यह कौतुक देखिए।

स्यान्मतम्। चूडामणिप्रभृतिनाटकानां वीररसप्रधानत्वात् वीररसे च नायकवल्लभा-प्रवेशस्यानुपयोगाद्[४६] अस्या न रङ्गावतारः। नायिकाव्यपदेशश्च तेनैव न भवति इति।

---

[४१] भास के नाटक *अविमारकम्* की नायिका।

[४२] किं च अयोनिजत्वेन अपरिच्छेद्यस्वभावत्वाद् अस्याः वेषः नावधार्यते इति – P

[४३] प्राकृतम् इत्यवधारितं – P

[४४] युक्ता इति चेत् – P

[४५] परिच्छिन्नम् इति – P

[४६] नायकवल्लभाप्रवेशस्य अनुपयोगाद् – P

क्व तर्हि नायकवल्लभाप्रवेशस्योपयोगः[४७]। शृङ्गाररसप्रधान इति चेत् कथं मलयवत्याः प्रवेशः। खलु नागानन्दे शृंङ्गारः प्रधानं, शान्तस्थ वीरस्य वा प्राधान्यात्। अथ अभिव्याप्त्या वा नायके शृङ्गारपरे तद्दयिताप्रवेश इति चेदशृङ्गारपरस्यापि[४८] नायकस्य समीपे स्वधर्मापेक्षया वर्तमानं कार्यपर्यालोचनादौ यथायोग्यमानुकुल्यमाचरन्तीं[४९] सहचरीं पराकर्तुं न क्षमामहे।

केनापि कारणेन सति विरहे देशान्तरे तदवस्थानमपि न प्रतिविधेयम्। नायकसम्बन्धिनां सर्वेषां प्रवेशो असाध्य इति चेत्, सत्यम्। किन्तु नाट्योपयोगिनां प्रयोजनमिति चेद् विचार्य निश्चनुमः।

पूर्वपक्षी कहता है – (सीता का नेपथ्य धारण न करना और उनका प्रवेश न कराया जाना) उचित कहा जा सकता है, क्योंकि *आश्चर्यचूड़ामणि* आदि वीर रस प्रधान नाटक हैं। वीर रस में नायक की प्रिया का प्रवेश उपयोगी नहीं है, इसलिए सीता का रंगमंच पर अवतरण नहीं कराया जाता। नायिका का नाम भी उसी कारण से नहीं लिया जाता।

तब प्रश्न होता है कि नायक की प्रिया का प्रवेश उपयोगी कहाँ होगा? यदि कहो कि शृंगार रस प्रधान नाटक में वह उपयोगी होगा। तब फिर प्रश्न होता है कि फिर *नागानन्द* नाटक भी शृंगारप्रधान नहीं है, उसमें शान्त या वीर रस प्रधान है, उसमें नायिका मलयवती का प्रवेश कैसे करा दिया? यदि कहो कि वहाँ प्रसंग की व्याप्ति से नायक शृंगार में प्रवृत्त है, तो उसकी प्रिया का प्रवेश उचित है। तो हम कहेंगे कि नायक शृंगार में प्रवृत्त न भी हो, तब भी उसकी प्रिया को जो स्वधर्म की अपेक्षा से कार्य के विचार में यथायोग्य अनुकूल आचरण कर रही है, उसका निवारण हमें तो सहन नहीं है।

यहाँ तो यह भी नहीं हो सकता कि विरह होने पर किसी कारण से नायिका अन्य देश में है, इसलिए उसका प्रवेश सम्भव न हो। यदि कहते हो कि नायक से सम्बन्धित प्रत्येक पात्र का तो प्रवेश कराना सम्भव नहीं, तो हमारा कहना है कि नाट्य में जो पात्र उपयोगी हैं, प्रयोजन समझकर उनका प्रवेश कराना उचित होगा।

इह खलु पम्पापञ्चकादीनां सूक्तानां प्रयोगः किमपि जनमुद्दिश्यते वाऽन्यथा[५०] वा। नान्यथा, "देवी"-त्यादि[५१] वचनानुपपत्तेः। "देवी"ति च तत्र नान्या[५२] संबोद्धव्येत, किं तर्हि सीतैव[५३]। ततः तादृक् सूक्तविषये एषा यदि पुनरियं[५४] बोद्धव्यत्वेन न अवस्थास्यत न तेन मनोहरतराः पदनिबन्धाः

---

[४७] नायकवल्लभाप्रवेशस्य उपयोगः – P

[४८] तद्दयिताप्रवेशः इति चेद् अशृङ्गारपरस्यापि – P

[४९] यथायोग्यम् आनुकुल्यम् आचरन्तीं – P

[५०] जनम् उद्दिश्यते वा अन्यथा – P

[५१] न अन्यथा, "देवि"-इत्यादि – P

[५२] "देवि"-इति च तत्र न अन्या – P

[५३] सीता एव – P

[५४] पुनः इयं – P

समुदपत्स्यन्त, कथाशरीरश्च विकलमभविष्यत्। तस्मात् न सीतया अत्र प्रयोजनम् इति[५५] वक्तुं न शक्यम्।

फिर यह प्रश्न होता है कि यहाँ पम्पापञ्चक आदि सूक्तियों का जो प्रयोग किया है, वह किसी व्यक्ति को उद्दिष्ट बनाकर किया है या अन्यथा? अन्यथा तो हो नहीं सकता, क्योंकि तब इन सूक्तियों में "देवि" यह सम्बोधनपरक शब्द युक्तिसंगत नहीं माना जाएगा। "देवी" इस सम्बोधन से वहाँ और कोई महिला तो सम्बोधित की नहीं जाएगी, सीता ही सम्बोधित की जाएगी। तब इस तरह की सूक्ति के विषय में यदि सीता सम्बोधित नहीं होती, तो फिर ऐसे मनोहर पदबन्ध ही कैसे निर्मित होते और (नाटक की) सारी कथा का शरीर ही विकल हो जाता। अतः यह कहना सम्भव ही नहीं कि सीता से इन सूक्तियों का कोई प्रयोजन नहीं है।

अस्तु तर्हि प्रयोजनम्। ततः किं क्रियतामिति[५६] चेत्, प्रवेशः क्रियताम्। प्रयोजनकारिणां सर्वेषां किं प्रवेशः कर्तव्य इति चेत् प्रवेशाभावनिमित्तविषयभूता सीता हनूमदादेः स्मरणसमानीतमात्रा। तथा सति तदुक्तेः प्राक् शब्दतो अर्थतो वा आकाशे लक्ष्यं बद्ध्वा इति भाव्यम्। न च नयनगोचरस्यापि जानक्या वचनमप्रवेशाय[५७] आकाशभाषितीकृतम्। तत्र खलु किं ब्रवीषीत्युपक्रमः[५८] स्यात्। आकाशपात्रसमुचितपाठ्यम् च स्यात्[५९]। नैतत् द्वयमपि हि दृश्यते। सर्वं चेदं प्रवेश[६०] निमित्तविच्युतिमात्रमेव।

यदि कहते हो कि ठीक है, मान लिया कि इन सूक्तियों का प्रयोजन सीता से ही है, तो क्या करें? तब हम कहेंगे कि सीता का प्रवेश कराओ। यदि पूछते हो कि जिन-जिन पात्रों के प्रति सूक्तियाँ प्रायोजित हों, क्या उन सबका प्रवेश कराया जाता है? तो हम कहेंगे कि इस प्रसंग में सीता-प्रवेश के भाव का निमित्त है, हनुमान् आदि पात्रों के स्मरण द्वारा मंच पर उसकी उपस्थिति आवश्यक हो जाती है। ऐसी स्थिति में (यदि सीता का साक्षात् प्रवेश न कराया जाए, तो) उसकी उक्ति के पहले शब्द से साक्षात् कहकर या अर्थ से सूचित करते हुए "आकाशे लक्ष्यं बद्ध्वा" (आकाश में लक्ष्य साधकर) यह (रंगनिर्देश) होना चाहिए। सीता दिखाई दे रही है, और उसका प्रवेश भी नहीं कराया गया और अप्रवेश की स्थिति में उसके लिए जो संवाद आकाशभाषित बोला जाना चाहिए था, वह आकाशभाषित नहीं बुलवाया गया। यहाँ (अन्य पात्र के संवाद की कल्पना करते हुए) क्या कहा यह कथन करवाना चाहिए था और तब अदृश्य पात्र द्वारा बोला गया संवाद भी रहना चाहिए था। तुम्हारी प्रस्तुति में तो ये दोनों ही बाते नहीं हुईं। यह सब प्रवेश के कारण की च्युति मात्र है।

---

[५५] सीतया अत्र प्रयोजनम् इति – P

[५६] क्रियताम् इति – P

[५७] वचनम् अप्रवेशाय – P

[५८] ब्रवीषि इत्युपक्रमः – P

[५९] आकाशपात्रसमुचिपाठ्यं च न स्यात् – P; आकाशपात्रसमुचितपाठ्यं च स्यात् – R

[६०] च एवम् अप्रवेश – P

प्रवेशनिमित्तमपि अस्त्येव, ततः प्रविशति रामः सीतया सह, ततः प्रविशति सीता इत्यादि बहुशः प्रवेशकथनदर्शनात्। सीतादेरप्रवेशे यो धर्मो भवद्भिः हेतुत्वेनाभिमन्यते तन्मात्रज्ञानं प्रबन्धकृतां नाभूद् य इत्थमकथयन्[६१]। कथितमखिलं न प्रमाणम् इति चेत् मैवम्।

इतिवृत्तविभागादिनिष्णातैः कविपुङ्गवैः।
कृते प्रबन्धे निःशङ्कं दोषारोपो न युज्यते॥१०५॥

प्रवेश का निमित्त भी है ही, क्योंकि अब राम सीता के साथ प्रवेश करते हैं, अब सीता प्रवेश करती हैं – ये प्रवेश के कथन बार-बार किए गए हैं, सीता आदि के अप्रवेश में जो धर्म आप कारण मान रहे हैं, उसका ज्ञान प्रबन्धकार (नाटककार) को नहीं था, इसलिए उन्होंने वैसा पाठ रख दिया यह जो कथन किया गया है, वह सबका सब प्रमाण नहीं होता।

श्रेष्ठ कवि इतिवृत्तविभाग आदि में निष्णात होते हैं, उनके रचे प्रबन्ध में इस तरह निःशंक होकर दोषारोपण करना उचित नहीं है॥१०५॥

४. शास्त्रप्रयोगयोः सम्बन्धसमीक्षा
(शास्त्र और प्रयोग के अन्तःसम्बन्ध का विचार)

ननु

न शास्त्रमस्तीत्येतावत्, प्रयोगे कारणं भवेत्।
शास्त्रार्थान् व्यापिनो विद्यात् प्रयोगांस्त्वेकदेशिकान्॥१०६॥

रसवीर्यविपाका हि श्वमांसस्यापि वैद्यके।
कीर्तिता इति किं तत् स्याद्, भक्षणीयं विचक्षणैः॥१०७॥[६२]

इत्यस्ति। अस्ति श्वमांसभक्षणे,

---

[६१] हेतुत्वेन अभिमन्यते तन्मात्रज्ञानं प्रबन्धकृतां न अभूत् यः इत्थम् अचकथन् – P; इत्थमकथयन् – R

[६२] तुलनीयम् –

न शास्त्रमस्तीत्येवैतत् प्रयोगे कारणं भवेत्।
शास्त्रार्थान् व्यापिनो विद्यात् प्रयोगांस्त्वेकदेशिकान्।।

रसवीर्यविपाका हि श्वमांसस्यापि वैद्यके।
कीर्तिता इति तत् किं स्याद् भक्षणीयं विचक्षणैः।।

इति कामसूत्रे द्वितीयेऽधिकरणे औपरिष्टके नवमेऽध्याये, ४१-४२
तथा च –
अधिकारवशादुक्ता ये चित्रा रागवर्धनाः।
तदनन्तरमत्रैव ते यत्नाद् विनिवारिताः।। तत्रैव ५४।।

न शास्त्रमस्तीत्येतेन प्रयोगो हि समीक्ष्यते।
शास्त्रार्थान् व्यापिनो विद्यात् प्रयोगांस्त्वेकदैशिकान्।।५५।। – तत्रैव, सप्तमेऽधिकरणे २.५४-५५

"भक्ष्या पञ्चनखाः सेधा गोधाकच्छपशल्यकाः शशश्च" इति निषेधे उपाधिः।

इदं हि वचनं श्वादिमांसनिर्वर्तनपरम्।

यदि कहते हो कि शास्त्र में लिखा है वह सब प्रयोग में कारण नहीं बन जाता। शास्त्र में बताई बातों को व्यापक जानना चाहिए, प्रयोगों को एकदेशीय॥१०६॥

वैद्यकशास्त्र में तो कुत्ते का मांस (खाने से होने वाले) रस, वीर्य और विपाक भी बताए गए हैं, तो क्या समझदार लोगों को कुत्ते का मांस खाने लग जाना चाहिए?॥१०७॥

(उत्तरपक्षी का कथन) – हाँ यह बात तो है। परन्तु कुत्ते के मांस-भक्षण में "भक्ष्या पञ्चनखाः सेधा गोधाकच्छपशल्यकाः शशश्च (पाँच नख वाले पाँच पशुओं का मांस भक्षणीय है – सेधा, गोधा (गोह), कच्छप (कछुआ), शल्यक तथा खरगोश)" – यह निषेध उपाधि है।[६३] इस वचन से कुत्ते के मांस के लिए निषेध बता दिया गया।

वाक्यसंस्पृष्टस्य अर्थस्य अत्यन्तप्राप्तत्वात् अन्ययोगव्यवच्छेदेन परिसंख्यानिषेधफला इति। न चैवं[६४] सीताप्रवेशस्य नाटकेषु कथितस्य स्मृतिषु पुराणादिषु वा किंचित् प्रतिषेधवचनमस्ति[६५]।

न किञ्चिदप्रयोगाय नाटके कथितं भवेत्।
यतो गत्वेति वक्तव्ये परिक्रम्येति कथ्यते॥१०८॥

न केवलं कवेश्चित्रप्रबन्धस्थितिवेदिनः।
द्रौपद्या अप्रवेशेऽस्मिन् आज्ञा राज्ञोऽपि लङ्घ्यते॥१०९॥

कुलशेखरभूपालकुलशेखरनिर्मिते।
धनञ्जये याज्ञसेन्याः प्रवेशः कथितोऽस्ति यत्॥११०॥

नाट्ये प्रविशतीत्यादिपरं विधिपरं ध्रुवम्।
स्थापकः प्रविशेत्, तत्रेत्यादेरध्वानमास्थितम्॥१११॥

वाक्य द्वारा संस्पृष्ट अर्थ जब एकदम समझ में आ जाए, तो अन्ययोग व्यवच्छेद से परिसंख्या (सीमन) करके निषेध समझ लिया जाता है। नाटकों में बताए गए सीता के प्रवेश को लेकर स्मृति या धर्मशास्त्र अथवा पुराणों में कोई निषेध वचन तो है नहीं (अतः यहाँ परिसंख्या का प्रयोग करके सीता के प्रवेश का निषेध नहीं समझा जाना चाहिए)।

नाटक में जिन कार्यों का प्रयोग नहीं करना है इनका निर्देश नहीं किया जाता (कि अमुक कार्य यह पात्र नहीं करेगा)। कोई पात्र चलता है, तो परिक्रम्य (मंच पर चक्कर लगाकर) यह रंगनिर्देश दिया जाता है॥१०८॥

---

[६३] भक्ष्याः पञ्चनखाः सेधागोधाकच्छपशल्यकाः।
शशश्च मत्स्येष्वपि हि सिंहतुण्डकरोहिताः।। – *याज्ञवल्क्यस्मृति* १.१७७

[६४] च एवम् – P

[६५] ....वचनम् अस्ति – P

न केवल चित्र (सुन्दर, चमत्कारपूर्ण) प्रबन्धों (नाटकों) की स्थिति या मर्यादाओं को समझने वाले कवि का ही उल्लंघन चाक्यार नट कर रहे हैं, द्रौपदी का प्रवेश न दिखाकर राजा की आज्ञा का भी उल्लंघन वे कर रहे हैं॥१०९॥

अपने कुल में शेखर राजा कुलशेखर (वर्मन्) द्वारा रचे नाटक में तो द्रौपदी का प्रवेश कराया गया है॥११०॥

नाटक में प्रविशति (अमुक पात्र प्रवेश करता है) यह रंगसंकेत निश्चित रूप से विधिपरक है, जब कहा गया कि स्थापक प्रवेश करेगा, तो समझना चाहिए कि स्थापक प्रवेश-मार्ग पर ही खड़ा है या प्रवेश के लिए तैयार है।

तस्मात् कथितस्य प्रयोजकत्वमङ्गीकृत्य[६६] सुभद्रादिवत् सीतायाः प्रवेशो वितन्यताम्, परित्यज्यताम् वा कथितस्याप्रयोजकत्वमङ्गीकृत्य[६७] सीतावत् सुभद्रादीनां प्रवेशः। इदं तु अर्द्धजरतीयं मा भूत्।

ननु भृशम् आदित आरभ्य प्रयोक्तृपरम्परया प्रवर्तमानेऽस्मिन् प्रयोगे इयमन्यथाबुद्धिर्न[६८] युक्ता। तर्हि ततोऽप्यादित आरभ्य प्रवर्तमाने "ततः प्रविशति सीते"-त्यादौ ग्रन्थेऽन्यथाबुद्धिः[६९] सुतरां न युक्ता।

ननु च अन्धपरम्परया प्रवर्तते नः प्रयोगोऽयम्। सत्यम्, इदमेव प्रवर्तते वः प्रयोगोऽयम्।

इसलिए नाटककार के कथन का प्रयोजन स्वीकार करके जैसे सुभद्रा का प्रवेश दिखाया, वैसे ही सीता का भी प्रवेश दिखाओ, या फिर नाटककार के कथन को प्रयोजनहीन मानकर सीता की तरह सुभद्रा का भी प्रवेश मत दिखाओ। यह अर्द्धजरतीय (आधा स्वीकार और आधा अस्वीकार) तो कम से कम ना हो।

यदि कहते हो कि आरम्भ से ही यह प्रयोग प्रयोक्ताओं की परम्परा के अनुसार किया जाता रहा है, इसमें आपकी अन्यथाबुद्धि (कुछ का कुछ समझना) ठीक नहीं है, तो फिर उससे भी पहले से चले आ रहे प्रयोगों में "ततः प्रविशति सीता (फिर सीता प्रवेश करती है)" – यह वचन ग्रन्थ में मिलता है, तो उसमें तुम्हारी अन्यथाबुद्धि भी बिल्कुल उचित नहीं है। यदि कहते हो कि हमारा प्रयोग तो अन्ध-परम्परा से ही चलता आ रहा है, तो यह बात तो सत्य है, आप लोगों का प्रयोग सचमुच अन्ध-परम्परा से ही चल रहा है।

---

[६६] प्रयोजकत्वम् अङ्गीकृत्य – P

[६७] कथितस्य अप्रयोजकत्वम् अङ्गीकृत्य – P

[६८] भृशम् आदितः आरभ्य प्रयोक्तृपरम्परया प्रवर्तमाने अस्मिन् प्रयोगे इयम् अन्यथाबुद्धिः न – P

[६९] ततोऽप्यादितः आरभ्य प्रवर्तमाने "ततः प्रविशति सीता" इत्यादौ ग्रन्थे अन्यथाबुद्धिः – P

सप्तमोऽङ्कुशः (सप्तम् अंकुश)

उपसंहारः (उपसंहार)

ननु ईश्वरप्रिये महाजनाभिमते अस्मिन्नाट्यविधावियं[१] वैमत्यविडम्बना न साध्वी। उच्यते –

भोः क्रियासाधनादीनां प्रकाराः सन्तु कामतः।
भावमात्रेण सर्वत्र प्रसीदति विभुर्नृणाम्॥११२॥

नानाविधाऽपि धीरेषा न्याय्ये वर्त्मनि युज्यते।
सद्भिरङ्गीकृतं त्यक्त्वा क्व वान्यत्र प्रवर्तताम्॥११३॥

गजमांसं निशायां किं भक्षणीयं दिवाथवा।
इति संशयमातिष्ठन् सर्वैर्दूरं विगीयते॥११४॥

विसंवादो न युक्तश्चेद्, अथास्मिन्नाट्यवर्त्मनि।
भवन्त एव किं तावद्, विवदन्ते परस्परम्॥११५॥

यदि कहो कि ईश्वर को प्रिय और बड़े लोगों को भी अत्यन्त अभिमत इस नाट्यविधि में आपकी यह असहमति की विडम्बना तो उचित नहीं है, तो हमारा उत्तर है –

अरे भाई, क्रिया और साधन आदि तरह-तरह प्रकार के बने रहें, मनुष्यों के विभु तो सर्वत्र भावमात्र से ही प्रसन्न होते हैं॥११२॥

यह विविध विधान रचने वाली बुद्धि न्यायोचित मार्ग में लगाई जाए यही अच्छा है, सज्जनों ने जिसे स्वीकार कर लिया है उस छोड़कर अन्यत्र कहाँ जाओगे?॥११३॥

गज-मांस रात में खाना चाहिए या दिन में इस तरह का संशय करने वाला (सब सज्जनों द्वारा) अत्यधिक निन्दित होता है॥११४॥

यदि कहो कि इस तरह की विसंवाद से भरी बातें उठाना ही उचित नहीं, तो फिर इस नाट्यमार्ग में आप ही एक-दूसरे से क्यों विवाद करते रहते हैं?॥११५॥

तथा हि केचित् नटाः रावणवधोद्यमेन समुद्रतीरं प्रविष्टस्य रामस्य "न मे दुःखं प्रिया दूरे"[२] इत्यादि विलापं नाटयन्ति। केचिदिदमयुक्तं नायकविरोधादिति[३] परित्यजन्ति। अपरे पुनरशोकवनिकाङ्के[४] चित्रयोधिप्रवेशाद् ऊर्ध्वमेव "हिमकर हिमगर्भा रश्मयस्तावकीनाः" इति

---

[१] अस्मिन् नाट्यविधौ इयं – P

[२] न मे दुःखं प्रिया दूरे न मे दुःखं ह्रतेति च।
एतदेवानुशोचामि वयोऽस्या अतिवर्तते।। – *वाल्मीकिरामायणे* ६.५

[३] "इदम् अयुक्तं नायकविरोधाद्" इति – P

[४] पुनः अशोकवनिकाङ्के – P

रावणपाठ्यम् अङ्गीकुर्वन्ति।[५] इतरे तु प्रागेव। केचिद् अङ्गुलीयाङ्कावसाने हनुमद्बालदहनं निरूपयन्ति, अन्ये निरस्यन्ति। केषाञ्चिन्मन्त्राङ्के[६] डिण्डिमप्रवेशः सचिन्तं भवति, अपरेषां सविकृतास्यम्, एकेषां याञ्चाप्रसारितकरम्।

कैश्चन हनूमन्नैपथ्ये ग्रैवेयकमादीयते परैरुपेक्ष्यते तद् बालस्मितैर्वामत इत्येके, दक्षिणत इत्यन्य इत्येवमादि[७] पदे पदे विप्रतिपत्तिप्रपञ्चः। अस्माकमिमा विप्रतिपत्तयश्चिरन्तन्य इति[८] चेत् तासां समीपेऽद्यतन्योऽपि काश्चित् सन्तु, विशेषाभावात्, अथैता विप्रतिपत्तयोऽभिनवा[९] न युक्ताः, अस्मासु कैश्चिदपि अनङ्गीकृतत्वात् इतिचेन्न, नाट्यन्यायानुसारिणश्चोद्यस्य[१०] सर्वस्यापि युक्तत्वात्।

उदाहरण के लिए आप लोगों में से कुछ नट रावणवध के उद्यम से समुद्रतीर पर पहुँचे राम के "न मे दुःखं प्रिया दूरे" इत्यादि विलाप का नाट्य करते हैं। कुछ दूसरे "नायक का विरोध झलकता है अतः इस तरह का नाट्य करना उचित नहीं" यह कहकर इसे छोड़ देते हैं। कुछ अन्य नट अशोकवनिकांक में चित्रयोद्धा के प्रवेश करने के बाद में ही रावण के "हिमकरहिमगर्भा रश्मयस्तावकीनाः" इस संवाद को स्वीकार करते हैं, दूसरे इसे पहले ही रखते हैं। कुछ अंगुलीयांकांक के समाप्त होने पर हनुमान् के केश जलाए जाने का नाट्य करते हैं, दूसरे लोग इस दृश्य को ही छोड़ देते हैं। कुछ के अनुसार मन्त्रांक में डिण्डिम का प्रवेश चिन्ता की मुद्रा में होता है, दूसरे के अनुसार मुँह बिगाड़कर होता है, और एक ऐसे भी हैं, जो उसे याचना के लिए हाथ फैलाते प्रवेश कराते हैं। कुछ हनुमान् के नेपथ्य में ग्रैवेयक (गले का आभूषण) धारण करा देते हैं, दूसरे इसकी उपेक्षा करते हैं, हनुमान् का बालस्मित (बच्चे की तरह मुस्कुराना) कुछ के अनुसार बाईं ओर से होता है, कुछ के अनुसार दाहिनी ओर से। इस तरह पग-पग पर असहमति के प्रसंग हैं।

(यदि कहते हो कि) इन लोगों में ये असहमतियां पुराने समय से चली आ रही हैं, तो (हमारा कहना है कि) उनके पास कुछ आज की भी आपत्तियां बनी रहें, दोनों में अन्तर ही क्या है? यदि कहते हो कि ये नई असहमतियां उचित नहीं हैं क्योंकि हम में से कोई भी इन्हें मानने को तैयार नहीं है, तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि नाट्य-न्याय के अनुसार जो भी आपत्ति उठाई गई है, वह उचित होगी।

तदेवं नाटकन्यायविरुद्धं सर्वमप्यदः।
प्रयोगजातमेतेषां शैलूषाणामिति स्थितम्॥११६॥

न नाटकेविरुद्धो न प्रयोग इति युक्तिभिः।
अहास्याभिरमी नैव समर्थयितुमीशते॥११७॥

---

[५] हिमकरहिमगर्भा रश्मयस्तावकीना मयि मदनविधेये येन वह्निं वमन्ति।
न तव बलमनङ्गस्यापि वा दुःखभाजो न जनकदुहितुरेषा शर्वरीनाथ शक्तिः।। – *आश्चर्यचूडामणिः* पञ्चमाङ्के

[६] केषांचित् मन्त्राङ्के – P

[७] ग्रैवेयकम् आदीयते परैः उपेक्ष्यते, तद् बालस्मितैः वामतः इत्येके धक्षिणतः इत्यन्ये इत्येवमादि – P

[८] अस्माकम् इमा विप्रतिपत्तयः चिरन्तन्यः इति – P

[९] अथ एताः विप्रतिपत्तयः – P

[१०] कैश्चिदपि अनङ्गीकृतत्वात् इति। न, नाट्यन्यायानुसारिणः चोद्यस्य – P

एवं स्थिते

इह युक्तिं न जानीमः, प्रयोगस्त्वयमीदृशः।
इत्येव वाणी शरणम्, अवसाने भविष्यति॥११८॥

तदा

किन्निमित्तमिदं नाट्यं, किम्प्रकारं किमाश्रयम्।
इति किञ्चिन्न जानन्ति, प्रयोक्तारोऽप्यमी नटाः॥११९॥

उक्तमात्रं गृहीत्वा तत्, प्रयोगे गौरवं यदि।
बहुमानोऽयमस्माभिः, शुकेषु विनिवेश्यते॥१२०॥

ऐसी स्थिति में –

इस तरह इन शैलूषों का सब कुछ नाट्य-न्याय के विरुद्ध है। ये लोग हमारा प्रयोग नाट्य-न्याय के विरुद्ध नहीं यह सिद्ध करने के लिए ऐसी युक्तियों का अश्रय भी नहीं ले पाते जो हास्यास्पद न हों। इन लोगों को केवल इतना ही कहते बनेगा कि हम इसमें युक्ति नहीं समझते, हमारा तो प्रयोग ही ऐसा है॥११७॥

तब –

ये नट नाटक का प्रयोग तो करते हैं, परन्तु किसलिए प्रयोग कर रहे हैं, इस नाट्य के क्या-क्या प्रकार हैं, इसका आधार क्या है – यह कुछ भी ये नहीं जानते॥११९॥

जो कह दिया उसी को पकड़कर प्रयोग का गौरव दिया जा रहा है, तो फिर इस तरह का नाट्य करने के लिए तो हम तोतों का भी सम्मान कर सकते हैं॥१२०॥

इत्थमवस्थिते[११] इह तु दैववशाद् एको महान् गुणः सञ्जातो दृश्यते, यद् अभिज्ञानशकुन्तलादीनि न व्याकुलीक्रियन्ते। नागानन्दादीनां वा वस्तुतः किमिव सङ्कटं भवेत्। एते पुनरेवं किमपि चेष्टन्ते इत्येतावदेवावशिष्यते[१२]।

इतना होने पर भी यहाँ भाग्य की बात है कि एक महान् गुण हो गया ऐसा दिखता है। वह यह कि इन नटों ने *अभिज्ञानशाकुन्तल* आदि (महान् नाटक) मटियामेट नहीं किए। *नागानन्द* आदि नाटक जो ये कर रहे हैं उनमें संकट हो ही क्या सकता है। अब तो बस यही बचा है कि ये कुछ भी चेष्टा करते रहें।

ननु च किमेवं नाट्यं विनिन्द्यते। मा मैवं वादीः। युष्मत्प्रयोगप्रकारः संशय्यते, न तु नाट्यम् अवमन्यते[१३], को नु खलु चेतनः त्रिभुवनाधिपतेः अमरनिकरकोटीरकोटिराधितचरणयुगलस्य

---

[११] इत्थम् अवस्थिते – P

[१२] इत्येतावदेव अवशिष्यते – P

[१३] नाट्यम् अवमन्यते – P

भगवतः शतक्रतोरतिमहितमिदं[१४] क्रीडनीयकं विनिन्दते। तन्निन्दायां वेदोऽपि निन्दितः स्यात्, तस्य तदुपादानत्वात्।

कूडियाट्टम् के नट की ओर से कहा जा सकता है – आप इस तरह नाट्य की निन्दा क्यों कर रहे हैं? तो हमारा कहना है – ऐसा मत कहिए, हम तो आप के प्रयोग के तरीके पर सन्देह उठा रहे हैं, नाट्य की अवमानना नहीं कर रहे। भला कौन समझदार होगा जो त्रिभुवन के अधिपति देवों के समूह के मुकुटों से वन्दित चरणयुगल वाले भगवान् इन्द्र के अत्यन्त महनीय इस क्रीडनीयक की निन्दा करेगा? ऐसी निन्दा करना तो वेद की निन्दा करना है, क्योंकि नाट्य वेद से ही तो जन्मा है।

यथोक्तम् –

गृहीत्वा पाठ्यमृग्वेदात्, सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि॥

वेदोपवेदैः संबद्धो नाट्यवेदो महर्षयः।
एवं भगवता सृष्टो, ब्रह्मणा सर्ववेदिना॥

इति। रसभरमनोहारितया च धर्मादिशिक्षणं कर्तुं किमन्यद्[१५] विचक्षणं समीक्ष्यते। यथाह –

श्रुतिस्मृतिसमाचारपरिशेषार्थकल्पना।
विनोदजननं लोके, नाट्यमेतद्भविष्यति॥

इति।

रसभरमनोहारितया च धर्मादिशिक्षणं कर्तुं किमन्यत् विचक्षणं समीक्ष्यते। यथाह –

श्रुतिस्मृतिसमाचारपरिशेषार्थकल्पना।
विनोदजननं लोके, नाट्यमेतद्भविष्यति॥

जैसा (*नाट्यशास्त्र* में भरतमुनि ने) कहा भी है –

गृहीत्वा पाठ्यमृग्वेदात्, सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसनाथर्वणादपि॥[१६]

वेदोपवेदैः संबद्धो नाट्यवेदो महर्षयः।
एव भगवता सृष्टो, ब्रह्मणा सर्ववेदिना॥[१७]

---

[१४] शतक्रतोः अतिमहितम् इदं – P

[१५] किमन्यत् – P

[१६] जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतिमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि।। – *ना॰शा॰* १.१७
नाट्यशास्त्र १.१७ में "गृहीत्वा" के स्थान पर "जग्राह" पाठ है।

[१७] वेदोपवेदैः सम्बद्धो नाट्यवेदो महात्मना। →

उन्होंने *ऋग्वेद* से पाठ्य (संवाद, कथा), *सामवेद* से गीत, *यजुर्वेद* से अभिनय तथा *अथर्ववेद* से रस लिया। इस प्रकार महात्मा तथा सब कुछ जानने वाले ब्रह्मा ने वेदों और उपवेदों[१८] से सम्बद्ध नाट्यवेद की रचना की।

रस से भरा होने के कारण नाट्य इतना मनोहर है कि धर्म आदि की शिक्षा देने के लिए उसके अतिरिक्त और किसकी अपेक्षा की जा सकती है? जैसा कहा भी है –

> श्रुतिस्मृतिसमाचारपरिशेषार्थकल्पना।
> विनोदजननं लोके, नाट्यमेतद्भविष्यति॥[१९]

यह नाट्य श्रुति, स्मृति, सदाचार और इनसे बचे अर्थों की परिकल्पना के साथ विनोद (मनोरंजन) करने वाला होगा।

ननु तर्हि किम् एवमपि केचिद् अनुयोगा[२०] न स्युः। कथं हनूमदादेः पार्श्वविशेषोपविष्टगायिकादिमत्वम्।

स किमिति मुखादेरीदृशः[२१] सन्निवेशः? कुतस्तत्कालादिवैमुख्यम्?। केन वा पुनरेवमाहार्यमिति[२२]।

उच्यते – न अत्र नः संशयो भवति येन परिपृच्छेम। एकं पृच्छ्यते चेदन्यदपि प्रष्टव्यमिति[२३] किं नियमोऽस्ति। तत्कालादिग्रहणपरामर्शे[२४] च नाट्यस्य एव अनुत्थानप्रसङ्गः। अशक्यं च तद् दुःसंपादाग्रहो मा भूदित्यभिसन्धिनोक्तम्[२५]।

"अनिमेषस्तु यस्तेषां, स न कार्यः प्रयोक्तृभिः"।

इति तादृशदेशसन्दर्भोऽपि न प्रमाणप्रतिपन्नः, विकृष्टादिरङ्गसन्निहितत्वे कथने अदृष्टत्वात्। नाट्यस्य गीतवादित्रादियोगोऽनुशिष्ट इति तत्कारिणामवस्थानभागादौ न वैमत्यं, प्रकारान्तरेणापि तस्यावश्यकत्वात्[२६]।

← एवं भगवता सृष्टो ब्रह्मणा सर्ववेदिना।।
नाट्यशास्त्र १.१८ में "महर्षयः" के स्थान पर "महात्मना" पाठ मिलता है।

[१८] चारों वेदों के चार उपवेद हैं – अर्थशास्त्र (*ऋग्वेद*), धनुर्वेद (*यजुर्वेद*), गान्धर्ववेद (*सामवेद*), आयुर्वेद (*अथर्ववेद*)।

[१९] *नाट्यशास्त्र* १.११९ के बाद अतिरिक्त पाठ। बडोदरा संस्करण में पाठ निम्न है –
श्रुतिस्मृतिसदाचारपरिशेषार्थकल्पनम्।
विनोदजननं लोके नाट्यमेतद्भविष्यति।

[२०] किम् एवमपि केचिद् अनुयोगा – P

[२१] मुखादे इदृशः – P; मुखादेरीदृशः – R

[२२] कुतः तत्कालादिवैमुख्यम्?। केन वा पुनरेवम् आहार्यम् इति – P

[२३] चेद् अन्यदपि प्रष्टव्यम् इति – P

[२४] तत्कालादिग्रहण … तर्षे – P; तत्कालादिग्रहणपरामर्शे – R

[२५] मा भूद् इति अभिसन्धिना उक्तम् – P

[२६] गीतावादित्रादियोगो अनुशिष्टः इति तत्कारिणाम् अवस्थानभागादौ न वैमत्यं, प्रकारान्तरेणापि तस्य आवश्यकत्वात् – P

यदि कहते हो कि इतना सब हम कर भी दें, तब भी क्या प्रश्न नहीं उठाए जाते रहेंगे? हनुमान् आदि पात्रों के पार्श्व में बैठी गायिका का होना रामायणकालीन नाटक में कैसे स्वीकार किया जाएगा? मुख आदि का इस तरह का सन्निवेश क्यों किया गया? तत्काल से विमुखता क्यों? और इस तरह का आहार्य क्यों? (इत्यादि प्रश्न तो प्रश्न करने वाले फिर भी करेंगे ही)।

इसके उत्तर में हमारा कहना है – इन सबको लेकर हमें संशय नहीं होता, जिससे हम प्रश्न उठाएं। यदि एक पर प्रश्न उठाएंगे, तो दूसरे पर भी प्रश्न करना होगा – ऐसा नियम है क्या? यदि तत्कालादिग्रहण के परामर्श पर प्रश्न करेंगे तो नाटक करना ही सम्भव न होगा। जो अशक्य है, उसे जबरदस्ती करने पर आग्रह न हो इस विचार से हमने यह कहा है। जैसे – देवताओं के लक्षण (जितने किए जा सकें, किए जाने चाहिए, पर) उनका निर्निमेष रहना – यह प्रयोक्ताओं के लिए निभाना सम्भव नहीं है, तो उन्हें वह नहीं करना चाहिए। – यह सन्दर्भ भी प्रमाण से तो स्वीकृत नहीं है, क्योंकि विकृष्ट आदि रंगमंच के प्रसंग में इसको देखा नहीं गया। नाट्य का गान व वादन के साथ योग बताया गया है, इसलिए गान, वादन करने वालों के मंच पर बैठने में भी आपत्ति नहीं की जा सकती, क्योंकि अन्यथा भी इसकी आवश्यकता है।

तथा आहार्यमपि न द्वापरगोचरः। तद्विधश्च च[२७] तत्र पुनः श्रुतिविरोधः परिहरणीयः।

किं च युक्तिं प्रमाणं च द्वे अप्यनुसरन् भवेत्।
अनुयोगस्समाधिश्चेत्येषैव विदुषां स्थितिः॥१२१॥

अस्माकमयमनुयोगस्तु[२८] कथादिविषयो न तावदागम-प्राचीनसरणिसम्मुखीनतां याति।

रसेनापि प्रभूतेन वस्तुभङ्गे निवारिते।
अरसेनामुनाकाण्डे क्रियाबन्धेन किं पुनः॥१२२॥

अनेकान्ते[२९] त्वनुभावो न त्याज्य इति तु स्थिते[३०]।
वेषासदृशचेष्टासु पृच्छेयं किमनौचिती॥१२३॥

एवं प्रयोगः कर्तव्यः इह रूपविधौ सति।
अनुक्तग्रहणं प्रोक्तत्यागो वा किं न चोद्यताम्॥१२४॥

अर्थान्तरप्रपञ्चेन रसपीडा भवेद्यदि।
वैद्यनिन्दाद्युपन्यासः सहसा केन गृह्यते॥१२५॥

उपयोगवियुक्तस्य समादानेऽनभीप्सिते।
भाषाकथनहेलादौ कस्य वा नास्तु संशयः॥१२६॥

---

[२७] तद्विधा च – P

[२८] अस्माकम् अयम् अनुयोगस्तु – P

[२९] आनिकान्ते – P; अनैकान्ते – R

[३०] त्याज्ये ऽत्युदिते – P, न त्याज्य इति तु स्थिते – R

एवं विचाररेखासु निखिलासु यथायथम्।
आप्ताशयानुरोधिन्यो युक्तयोऽप्यत्र जाग्रति॥१२७॥

इसी प्रकार आहार्य (वेशभूषा आदि) भी द्वापर युग का कैसा था यह किसी ने देखा तो नहीं। इसलिए इसके निर्धारण में श्रुति विरोध हुआ है यह नहीं कहा जा सकता।

अनुयोग और समाधि इन दो प्रमाणों का अनुसरण करें – यह विद्वानों द्वारा स्थापित मर्यादा है (१२१)।

हमारा प्रश्न तो कथा आदि के विषय में है, आगम की प्राचीन रीतियों के विषय में नहीं।

कथावस्तु में जो विच्छेद कर दिया गया, उसका प्रचुर रस द्वारा निवारण कर भी दिया जाए, लेकिन इस नीरस अनवसर पर प्रस्तुत क्रियानृत्य की तो आवश्यकता ही क्या है?॥१२२॥

यह सत्य है कि अनेकान्तिक दृष्टि से अनुभाव का त्याग नहीं किया जा सकता, परन्तु वेश की असमान चेष्टाओं पर हमने जो प्रश्न उठाया, वह क्या अनुचित है?॥१२३॥

रूपविधि में इस तरह से प्रयोग करना चाहिए, यह बिना कहे भी ग्रहण कर लेना चाहिए यह बताया गया है। तो त्याग क्यों न बताया जाएगा?॥१२४॥

अन्य अर्थ का प्रपञ्च जोड़ देने से रस की क्षति यदि होती है, तो यह वैद्यनिन्दा का प्रसंग लाया गया, उसे कौन स्वीकार करेगा?॥१२५॥

उपयोग से रहित समान दान में अनीप्सित भाषा, कथन व हेला में किसे संशय न होगा?॥१२६॥

इस प्रकार सम्पूर्ण यथोचित विचार-रेखाओं में आप्त (प्रामाणिक) जनों के आशयों के अनुरोध से होने वाली युक्तियाँ भी चैतन्य हैं॥१२७॥

अयं प्रयोगप्रकारो न साधुर्भवितुं अर्हति, अङ्गिन्यसङ्गादिदोषवत्वात्। यन्नैवं तन्नैवम्[३१], यथा चूडामणिनाटकम्। इह क्रिया नाङ्गं[३२] प्रयोजनविमुखत्वात्। यद् यत्र प्रयोजनविमुखं तत् तत्र नाङ्गम् यथा शीतार्तिप्रतीकारे कपर्दिकदामधारणमित्यादि। तदिह कथनमनुयोगसाम्यं स्यात्। न खलु प्रारब्ध-कथाशरीराकाण्डखण्डनादिपरिहारे काचित् नाट्यपरिक्षतिः स्यात्। यथा गीतादित्कालादिपरित्याग-परिग्रहप्रवृत्तौ। आस्तामिदखिलम्।

वस्तुतः अस्माकं सर्वेषामपि सुखविरोधः अयम् यद् एतादृशि नाट्ये किञ्चित् किञ्चित् कालुष्यं देववैपरीत्यात् समुपजातम्।

इदं सुधादीधितिमण्डलं च नाट्यं च हृद्यं महितं[३३] निकामम्।
आद्ये कलङ्कोस्ति बत स्वभावचेष्टादिकं चारु न चान्तिमेऽस्मिन्[३४]॥१२८॥

---

[३१] यत् न एवं न तद् एवम् – P

[३२] न अङ्गं – P

[३३] महिते – P

[३४] चेष्टादिकं … अन्तिमेऽस्मिन् – P; चेष्टादिकं चारु न चान्तिमेऽस्मिन् – R

(आप लोगों का) यह प्रयोग प्रकार ठीक नहीं हो सका, क्योंकि यह अंगी (प्रधान रस या कथा) से असम्बद्ध होने के कारण दोषपूर्ण है। जो प्रधान कथा आदि से सम्बद्ध है, वह दोषपूर्ण नहीं है। जैसे – *आश्चर्यचूड़ामणि* नाटक। इसमें न नृत्य की क्रिया बताई गई है, न अंग ही, क्यों? यदि क्रिया या अंग बताए जाते, तो नाटक के प्रयोजन से विमुख रहते। जो-जो प्रसंग प्रयोजन से विमुख है, वह अंग नहीं है, जैसे शीत से होने वाले क्लेश में भिक्षुक का रस्सी धारण करना। ऐसी स्थिति में यहाँ हमारे प्रश्नों का सही उत्तर कैसे बन पाएगा? कथा का जो अंश आरम्भ कर दिया गया इसे अनवसर में तोड़ने का परिहार किए जाने से नाटक में कोई क्षति नहीं हो सकती। जैसे गीत आदि को तत्काल त्याग कर देने से क्षति नहीं होती। तो अब यह सारी बातें रहने दी जाएं।

वास्तव में तो यह हम सब (सहृदय) प्रेक्षकों के सुख का विरोध है कि इस तरह के नाटक में दैव के विपरीत होने से इस तरह का कालुष्य आ मिला है।

यह चन्द्रमण्डल तथा नाट्य दोनों हृद्य तथा अत्यन्त महनीय हैं। पहले में स्वभावतः कलंक है, दूसरे में चेष्टा आदि सुन्दर नहीं हैं (वे कलंक जैसे हैं)।

तर्हि किमत्र कर्तव्यमिति चेत् श्रूयताम्। मुनिमताविरोधेन प्रयोगो नेतव्यः। प्रथमम् अकाण्डे कथाभङ्गो मा भूत्। निवर्ततां अन्यसङ्गः। विरम्यताम् अनुल्लिखितकथापरिग्रहः। भजतु विनिमीलनपरिग्रहः, आतिष्ठतु गगनारविन्दसुन्दरमनुकार्यसङ्करः।

तिरोबोभूयतां भाषान्तरपरिग्रहम्। आमुञ्चतु प्रशमाभरणमुक्तप्रवेशवैमुख्यम्। भवतु च यथावस्थितमन्याखिलम्। यथा इह खलु ग्रन्थकारविहितारम्भमङ्गलमनुष्ठाय[३५] "ततः प्रविशति हनूमान् अङ्गुलीयकहस्तः" इत्येतद् ग्रन्थानुसारेण समुचितवेषादिशालिनि कपिवरप्रवेशे कृते लङ्कावलोकनरभसादिनिरूपणान्तरं प्रसङ्गात् सम्प्रति हि इत्युक्त्वा "मैनाकं नागकन्या" इति श्लोक एव प्रयुज्यताम्, न क्रिया चार्वाचीनकथा। एवम् उपरिष्टादपि। तत्र यथेच्छं श्लोकार्थस्य भूत्। इयं स्थितिः सर्वत्र समालोचनीया।

वितत्य नाट्यतां कामं, ग्रन्थस्यार्थो यथारुचि।
मा विमोचि स्वभावेना, ... निष्परा॥१२९॥

एव सति प्रयोग अयं नाट्यन्यायम् अनुसरति।

॥ इति नटाङ्कुशं समाप्तम्॥

नटानामङ्कुशमिति प्रोदतिष्ठन्नटाङ्कुशम्।
नटो येन नटम्मन्यः सुस्थितो भरताध्वनि[३६]॥

अब यदि पूछो कि करना क्या है तो सुनो। भरतमुनि के मत का विरोध न हो इस तरह से प्रयोग करना है। पहले तो अनवसर में कथा भंग न हो। अन्य प्रसंग से बचो। (नाटककार द्वारा) अनुल्लिखित

---

[३५] त … गम्मङ्गलम् – P; तारम्भमङ्गल – R

[३६] नटा येन नटं मन्यात्, … ति भरताध्वनि।। – P; नटो येन नटम्मन्यः सुस्थितो भरताध्वनि – R

कथा को स्वीकार मत करो। विनिमीलन धारण करो, आकाशकुसुम के समान सुन्दर अनुकार्यों (पात्रों) का सम्मिश्रण रहने दो।

अन्य भाषाओं (प्राकृत, मलयालम् आदि) का परिग्रह हटा दो। प्रशमाभरण से रहित प्रवेश की विमुखता त्याग दो। शेष सब जैसा होना चाहिए वैसा ही हो। जैसे कि ग्रन्थकार द्वारा रचित मंगल का अनुष्ठान करके "ततः प्रविशति हनूमान् अङ्गुलीयकहस्तः (अँगूठी हाथ में लिए हनुमान् प्रवेश करते हैं)" ग्रन्थ (*आश्चर्यचूड़ामणि* नाटक) के (इस निर्देश) के अनुसार समुचित वेश आदि धारण किए हुए हनुमान् का प्रवेश होने पर लंका के अवलोकन में हड़बड़ी दिखाने के बाद प्रसंगानुसार उसी क्रम में "सम्प्रति हि" – (अब तो) ऐसा कहलवाकर हनुमान् के मुख से "मैनाकं नागकन्या" यह श्लोक ही प्रयुक्त कराया जाए, नृत्यक्रिया तथा आजकल की कोई कथा नहीं। ऐसा ही इसके आगे भी होना चाहिए। उसमें भी श्लोक के अर्थ की मनमानी व्याख्या न हो। ऐसी स्थिति का ही सर्वत्र ध्यान रखा जाए।

नाट्य का विस्तार भले किया जाए, परन्तु ग्रन्थ की अपनी रुचि से कुछ भी व्याख्या करके स्वाभाविकता का हनन न किया जाए॥ १२९॥

ऐसा होने पर ही प्रयोग नाट्य-न्याय का अनुसरण करेगा।

॥ नटाङ्कुश समाप्त ॥

नटों पर अंकुश लगाने के लिए यह अंकुश उठाया गया।
जिससे नट नट की तरह रहे और भरत के मार्ग में सुस्थित रहे।

परिशिष्ट १

नटाङ्कुशकार द्वारा विरचित कारिकाएँ तथा श्लोक

ग्रन्थारम्भः

महिमा स जयेत्येको यत्प्रभावस्य गायिका।
सततागमकेदारा तारस्वरवती त्रयी॥१॥

दम्पतीप्रक्रियां काञ्चिज्जगत्रय (विमोहिनीम्)।
लास्यताण्डवसम्भेदप्रयोगाश्चर्यभूमिकाम्॥२॥

भारतीचारुवक्त्रेन्दुलीलार्द्रस्मितचन्द्रिका।
सूते सुधीचकोराणां नाट्यविद्या भृशं मुदम्॥३॥

यस्य विज्ञानपानेन देवेन्द्रो रमते दिवि।
तस्मै नमो मुनीन्द्राय भरताय ससूनवे॥४॥

अहो दुर्ज्ञानमप्यन्यैः प्रयोगेन महानटाः।
आदाय दर्शयन्त्येवं वस्तुनेत्राश्रयं रसम्॥५॥

तत्रामीभिस्तु शैलूषैर्नाट्यं यत् प्रवितन्यते।
लोकोत्तरत्वान्नूनं तदवगन्तुं न गच्छति॥६॥

गर्वयन्ते च तेनामी वयमेवात्र पण्डिताः।
नास्मत्प्रयोगं जानन्ति मुग्धा एते जना इति॥७॥

तद्युक्तं यत एतेषां गृहगानतया स्थिते।
अङ्गुलीयाङ्क एवादौ संशयाः सन्ति मादृशाम्॥८॥

प्रथमः अङ्कुशः

क्रियां कथा स्पृशत्येनां न सामाजिकसाक्षिणी।
पराजयनिमित्ताभिनिर्धूतमिव वादिनाम्॥९॥

साधनात् साधनतरं साध्यार्थी नूनमिच्छति।
आदत्ते तुरगं शीघ्रगमनैषी न दण्डिकाम्॥१०॥

क्रियेयं देवताप्रीतिविधये जायते यदि।
नाट्यात् प्रागेव नान्दीव प्रयोक्तव्या भवेद् ध्रुवम्॥११॥

उल्लङ्घ्य जलधिं लङ्कां प्राप्तोस्मीति विचिन्त्य तु।
हनूमान् देवताप्रीत्यै प्रक्रान्त इति युज्यते॥१२॥

एषा दैवात् कृता प्राप्तिरिति तद्वन्दनं यदि।
तथेदं चेति भोः कुत्र क्रियां मुक्त्वा कथोदयः॥१३॥

यत्कृतं नाटकं चूडामणिश्चूडामणिः सताम्।
स कस्यैव न मान्योऽयं शक्तिभद्रो महाकविः॥१४॥

कथारससमास्वादस्रोतसां सभ्यवर्तिनाम्।
मध्ये मध्ये शोषकरी सैषा नूनममङ्गलम्॥१५॥

स्वात्मचेष्टा क्रिया स्याच्चेत् सर्वत्रेयं प्रसज्यते।
व्यापारो वस्तुनटने परचेष्टेति वा भवेत्॥१६॥

सत्येव रज्जुसम्बन्धे तन्वन्नब्धौ विगाहनम्।
जलाहरणमादत्ते घटो नासति जातुचित्॥१७॥

पूर्वमुत्पन्ननष्टेन मुक्ताहारेण सम्प्रति।
कथङ्कारं कुरङ्गाक्ष्याः स्तनग्रीवं विभूष्यते॥१८॥

अथादृष्टफलैवैषा मण्डलोल्लेखनादिवत्।
मैवं दृष्टफलैवैषा प्रयोक्तुः स्फुरति श्रमे॥१९॥

इहागामादिप्राप्तं वा दृष्टार्थं वा न यद्भवेत्।
तत् किञ्चिदपि न स्थैर्यम् उपगन्तुं प्रगल्भते॥२०॥

जले कपर्दे काष्ठे च यत्रानास्था पृथक् पृथक्।
तत्रैतत् त्रिसमासेऽपि तथा स्यादतीव वा॥२१॥

यत्तु नृत्तं माङ्गलिकं देवस्तुत्यर्थमिष्यते।
करणैरङ्गहारैश्च समुद्भासि तथाविधम्॥२२॥

तस्य शोभानिमित्तस्य सर्वप्रीतिविधायिनः।
पूर्वरङ्गविधावेव प्रयोगो नान्यतः क्वचित्॥२३॥

तस्मात् तदात्मतां प्राप्तुं क्रियेयं कथमर्हति।
पूर्वरङ्गाद् बहिर्भूता कथान्तर्विनिवेशिता॥२४॥

द्वितीयः अङ्कुशः

स्थापनान्तरोदञ्चत्कथाभ्यान्तरमास्थितः ।
यन्नोऽसौ पूर्वरङ्गः किं मध्यरङ्गो न किं भवेत् ॥ २५॥

पूर्वरङ्गात्मतायां वा संसिद्धायामये कथम् ।
तदङ्गमादिममियं चार्येवेत्यवधार्यते ॥ २६॥

नान्द्यन्ते नाटकारम्भः,कृतश्चेत् कथमेव वा ।
भवेदस्मिन् क्रियापृष्ठे तदङ्गपरिवर्तनम् ॥ २७॥

कार्यं चेदवगम्येत किं कारणपरीक्षया ।
कार्यं चेन्नावगम्येत किं कारणपरीक्षया ॥ २८॥

प्रतिज्ञां शङ्कितेनैव साधयन् हेतुना सुधीः ।
हेतुं प्रतिज्ञीकुरुते प्राक् प्रतिज्ञां च मुञ्चति ॥ २९॥

प्रतिज्ञां शङ्कितेनैव साधयन् हेतुना सुधीः ।
बाष्पेण शैलमूलस्थं निश्चिनोति हुताशनम् ॥ ३० ॥

अत्र क्रिया किलातीव प्रधानं तत्र किञ्चन ।
न दृष्टमूलमद्यापि तदेतत् पुनरूह्यते ॥ ३१॥

अत्र क्रिया किलातीव प्रधानं तत्र किञ्चन ।
न दृष्टमूलमद्यापि नाट्यसर्वस्ववेदिना ॥ ३२॥

आचारस्योपलब्ध्यैव न साधुत्वं व्यवस्थितम् ।
किं त्वागमने युक्त्या वा लोकेच्छालब्धजन्मना ॥ ३३॥

नन्वाचारेण तन्मूलस्मृतिसम्भावना भवेत् ।
आचारेण स्मृतिं ज्ञात्वा, स्मृतेश्च श्रुतिकल्पताम् ॥ ३४॥

स्मृत्या प्रत्यक्षया भाव्यम् आचारे मूलभूतया ।
स्मृतेस्तु मूलं प्रत्यक्षं परोक्षं वेति सूरयः ॥ ३५॥

स्मृतेरपि परोक्षत्वे किं मध्यगतयानया ।
कल्प्यते श्रुतिरेवेति स्मृतिं ज्ञात्वेत्यनर्थकम् ॥ ३६॥

अस्त्यत्र वचनं मूलं, तत्तु नाधिगतं मया ।
इति चेन्नाट्यसाधुत्वे वादस्तव न शोभते ॥ ३७॥

वचनं विस्मृतं यच्च, यच्च नाधिगतं तथा।
शशशृङ्गायमानेन तेन वादेषु किं फलम्॥३८॥

नेत्रयोरञ्जनं ज्ञेयम्, इत्युक्तेऽत्र न वारणम्।
इति गण्डतलेपि त्वम् अञ्जनं न करोषि किम्।३९॥

तथाचारो न दृष्टश्चेद् आचारस्यापि तद्वचः।
मूलमित्युदितान्यस्यग्राही भूम्नाभियुज्यते॥४०॥

वचनस्यायमाचारो मूलमित्युच्यते यदि।
अस्य स्थिरत्वादप्रोक्तं, नैवोपादेयमण्वपि॥४१॥

ग्राह्यत्व एव कथिते समुन्मिषति केवलम्।
अनुक्तं भवदग्राह्यम्, इति शब्दाध्वनि स्थितिः॥४२॥

इह प्रावेशिकोक्त्यैव नाटकादिषु सिद्ध्यति।
वेषाङ्गिकादिसहिता रामाद्यनुकृतिः स्फुटम्॥४३॥

अन्यथा विशतेः कर्म किं रङ्गेण विना भवेत्।
कश्चार्थो वर्तमानोऽस्य लट इत्यतिदुर्घटम्॥४४॥

रामः प्रविशतीत्यत्र न साक्षाद्राम उच्यते।
किंतु रामानुकर्तैव तादृप्येणोचारतः॥४५॥

भवत्यनुकृतौ वेषः स्वत एवावलम्बनम्।
सुखदुःखाद्यवस्थानां कार्यभूताङ्गिकादि च॥४६॥

तदा विना न वेषादीन् प्रवेश इति सेत्स्यति।
यद् येनैवाविनाभूतं तत्तदाश्रित्य वर्तते॥४७॥

तस्माद्वेषस्तथैवाङ्गाभिनयोऽप्येष नाटके।
प्रावेशिकोक्त्या संसिद्धो भवतीत्यवगम्यताम्॥४८॥

कर्मत्वेन च संसिद्धे रङ्गे प्रविशताविह।
गीतवाद्यादिकं सिध्येत्, नाट्यता च यथागमम्॥४९॥

अस्तु वा वचनं क्वापि तच्चाधिगतमुच्यताम्।
तथाप्ययं क्रियावादी सङ्कटान्न विमुच्यते॥ ५०॥

अस्याः क्रियायाः पाठ्यान्तरादाने युक्तिरस्ति चेत्।
प्रमाणवचनं युक्तं नास्ति चेत् न तदिष्यते॥५१॥

युक्तिरस्याः समारब्धकथाच्छेदाप्तजन्मनः।
रसमारणकाठिन्यनिर्वासनविधायिनी॥५२॥

ततश्च किञ्चिदादाय पाठ्यमध्ये क्रियास्त्वति।
क्वाप्यस्तु वचनं तन्न कथञ्चिद् युक्तिवल्लभम्॥५३॥

युक्त्या विरहितं वाक्यं न किञ्चिदपि शोभते।
अग्निना सिञ्चतीत्येतत् कथं भवति चिन्त्यताम्॥५४॥

उपपत्तेर्न वचनं कारकं किन्तु बोधकम्।
व्यनक्ति हि प्रदीपोऽयं कुलालः कुरुते घटम्॥५५॥

अन्यथा पुनरेवं स्याद् इत्युक्ते केनचित् क्वचित्।
अङ्गुल्यग्रादिवाक्यस्याप्यस्य प्रामाण्यमापतेत्।५६॥

तृतीयः अङ्कुशः

परिग्रहेणैव सताम् असतां वात्र कुत्रचित्।
सर्वतः साधुभावोऽयं वस्तुनो नावधार्यते॥५७॥

प्रकृत्या सुन्दरं वस्तु सदोषमपि गृह्यते।
कलङ्कोऽस्तीति पूर्णेन्दुमुदितं को न पश्यति॥५८॥

चूतस्य दोषवद्दोषं रत्नस्य सकलो जनः।
ज्ञातुं न क्षमते तं तु जानीते रत्नतत्त्ववित्।५९॥

पाठ्ये स्खलन्तं पुरुषम्, उत्तमो धीरमीक्षते।
हसन्त्यन्ये सुहृन्नैवम् इति शिक्षयते स्वयम्॥६०॥

सम्प्रति हि ग्रन्थस्य च, पश्यैतस्याः क्रियायाश्च।
हारयति वक्षसोरिव, नान्योन्यं युज्यते घटना॥६१॥

अगाहमाना सम्बन्धं पूर्वेण च परेण च।
इयं साध्वी क्रिया मध्ये त्रिशङ्कुरिव वर्तते॥६२॥

अकल्पमाना कस्मैचिदुपयोगाय कुत्रचित्।
अजागलस्तनच्छायमेषा समधितिष्ठति॥६३॥

हनूमानिति कृत्वैवं प्रवेशे विहिते पुनः।
कथावियुक्तं किं युक्तं गात्रविक्षेपसाहसम्॥६४॥

तत्तन्नाम गृहीतानि पात्राणि परिपश्यताम्।
प्रेक्षकाणां कथां मुक्त्वा न क्वापि रमते मनः ॥६५॥

रसे प्रतिष्ठितं नाट्यम् इति घण्टापथो महान्।
स कथायां स्थितस्तस्मान्नैव तत् स्याद्विनानया ॥६६॥

कथा खलु विभावानुभावसञ्चारिरूपिणी।
स्थायिनं पुष्णती सभ्यान् करोत्यानन्दशालिनः ॥६७॥

न केवलमयं नृत्यविशेषो नाट्यमध्यगः।
अमुष्य वाचकश्शब्दः क्रियेत्येषोपि नूतनः ॥६८॥

चतुर्थः अङ्कुशः

कोऽहं कुतः किमर्थं वा, कथं वागतवानिति।
सर्वं किं विस्मृतमभूल्लङ्काप्राप्तौ हनूमतः ॥६९॥

राक्षसेन्द्रपुरीं दृष्ट्वा स्फुरत्संरम्भसम्भृतः।
दृष्टः प्लवगशार्दूलो जानकीजानिवल्लभः ॥७०॥

त्रिकूटशिखरे स्थित्वा, यथा लङ्का विलोक्यते।
तथा विलङ्घिताम्भोधेः प्रवेशोऽयं हनूमतः ॥७१॥

सिद्धस्यावर्तनं तावत् न कथं पिष्टपेषणम्।
असतस्तु समादाने व्योमपद्मोऽपि गृह्यताम् ॥७२॥

त्यक्तं नैव निरीक्ष्यं समुपात्तं श्लाघनीयमतिवेलम्।
कविहृदयमेव नाट्येष्वनुसरणीयं प्रयोगभृताम् ॥७३॥

त्यक्तग्रहणं स्वीकृतहानं संक्षिप्तविस्तरोऽन्यत्वम्।
प्रथितस्य चेति दोषाश्चत्वारो नाटकप्रयोगेषु ॥६४॥

अवबुद्धेरनपेक्षातः प्रवृत्ते किन्नु शङ्कया।
अपेक्षितोर्ध्ववृत्तेऽस्मिन् प्रवृत्तेः किन्नु शङ्कया ॥७५॥

स्ववृत्तालोचने तेन कृतमेवमितीह यः।
असपद्योभिनयः सोऽयं कथं सङ्गतिमिङ्गति ॥७६॥

कपिरूपमुपादाय लाङ्गूलादिविशेषितम्।
सीता भूत्वा विलासादिनटनं साधु साध्विदम् ॥७६॥

एकोऽनुकार्यो वेषेण, तथान्यस्त्वाङ्गिकादिना।
इति केनोपदिष्टं वा क्व वा लौकिकमागमे॥७७॥

रामवेषीभवेदेष वेषो हनुमतो यदि।
हनूमानेव रामोऽपि नान्य इत्येव कथ्यताम्॥७८॥

यद्यसौ परिणामः स्यात्, प्रत्यापत्तिप्रथा कथम्।
क्षीरं दधिदशाप्राप्तं न पुनः क्षीरतां व्रजेत्॥७९॥

हनूमान् बालतः पृष्ठे, सीता वसनतः पुरः।
अहो नाट्यविद्याधिरूढस्य वेषोपादानचातुरी॥८१॥

आहार्येण कपिश्रेष्ठो, रामादिस्त्वाङ्गिकादिना।
दृश्यते सममेकत्रेत्येष कुत्र भवो नयः॥८२॥

तस्मादलमलं वाचा, विद्वन्नागमलब्धया।
यथा नाट्ये तथैवास्मिन् अद्वैतेऽपि कृती भवान्॥८३॥

पञ्चमः अङ्कुशः

सन्ति प्रावृषि पद्मानि कश्मीरेष्विति नाटके।
प्रयुक्तात्राम्बुजोभूतिः न भवेद्विदुषां मुदे॥८४॥

सिंहलद्वीपवृत्तान्तमात्रमालोक्य कः सुधीः।
सहकाराङ्कुरैः स्फारैः घनकालं प्रशंसति॥८५॥

निशा शशाङ्कधवला वर्षाकालेऽत्र जात्विति।
तस्यैवं रचना पद्ये परिहासाय जायते॥८६॥

पत्रवल्लीसमुल्लासि कपोलादि मृगीदृशाम्।
इति प्रयुज्यते काव्ये कुत्रैतदवलोकितम्॥८७॥

प्रकटस्तनबिम्बेऽस्मिन् केरलेष्वबलाजने।
कथं स्तनांशुकादानं नायिकानां वितन्यते॥८८॥

कीर्त्यमानं द्विजस्येदं, शूद्रस्त्रीषु प्रसञ्जनम्।
हा हन्त धर्मशास्त्राणां, मर्माणि विनिकृतति॥८९॥

नास्ति वाक्यस्य तात्पर्यम् अनुवाद्यदशास्विति।
सर्वेषामेव संवादः शब्दार्थव्यवहारिणाम्॥९०॥

एवमेवापि यत्किञ्चिद्, आदायोदीर्यते यदि।
दशदाडिमवाक्यस्य चिरादुच्छ्वसितं मनः ॥ ९१॥

अपशब्द एव न परं, नटजनमाश्रित्य हन्त भवति सुखी
विद्वत्प्रवेकसमुदयवित्रस्तोऽसावपार्थोऽपि।
अथवा नेदृशी चर्चा शैलूषैस्सह सिद्धये।
स्वतो येषां स्थितं हस्ते सामर्थ्यं पदवाक्ययोः ॥ ९२॥

प्रसङ्गानुप्रसङ्गेन, कुत्र सङ्गच्छते न किम्।
मृत्तिकापि कुलालस्य ब्रह्मविद्यां विगाहते ॥ इति ९३॥

शाखाचङ्क्रमणैरेवं, भवान्, साधु हरिर्भवन्।
मन्त्राङ्केऽप्यङ्गुलीयाङ्कप्रस्थानं न विमुञ्चति ॥ ९४॥

इत्थमङ्गान्यभूतस्य वस्तुनोऽतिप्रपञ्चनम्।
प्रकृतार्थलतामूले कुठारपतनं स्फुटम् ॥ ९५॥

रसमर्माणि विदुषां न नूनं हृदयङ्गमम्।
अतिप्रथनाङ्गस्याप्यत्रानङ्गस्य किं पुनः ॥ ९६॥

षष्ठः अङ्कुशः

देशजातिविधानेन शेषाणामपि लक्ष्यते।
वेषं तथा चाभरणं नानावस्थावन्तराश्रयम् ॥ ९७।

अन्यासां मानुषीणां च दिव्यानां च नतभ्रुवाम्।
पार्यते ज्ञातुमाहार्यं मैथिल्या नेति किन्विदम् ॥ ९८।

अस्याश्च वेषविज्ञाने पृथग्यत्नो न सम्भवेत्।
एक प्रकारं नेपश्यं येनेह नृपयोषिताय् ॥ ९९॥

वनवासे वियोगे वा तदवस्थानुरूपातः।
आकाङ्क्ष्यते चेन्नेपथ्यं, तच्च न स्यात्सुदुर्लभम् ॥ १००॥

स्फुटं जटावल्कलवान्, वेषो न खलु गृह्यते।
वनमावसतोरत्र रामलक्ष्मणयोरपि ॥ १०१॥

प्रियविश्लेषसन्तापमुर्मुरीभूतचेतसाम्।
कुरङ्गीप्रभृतीनां किं, नास्त्येवाकल्पकल्पना ॥ १०२॥

नेपथ्यं न परिच्छिन्नं, सीतायाः स्वयमुद्भवात्।
पाठ्यं पुनः परिच्छिन्नमिति स्यादर्धवैशसम्॥१०३॥

वाचिकग्रहणे सैषा योनिजा परिकल्पिता।
अयोनिजैव नेपथ्यवैमुख्ये पश्य कौतुकम्॥१०४॥

इतिवृत्तविभागादिनिष्णातैः कविपुङ्गवैः।
कृते प्रबन्धे निःशङ्कं दोषारोपो न युज्यते॥१०५॥

न किञ्चिदप्रयोगाय नाटके कथितं भवेत्।
यतो गत्वेति वक्तव्ये परिक्रम्येति कथ्यते॥१०८॥

न केवलं कवेश्चित्रप्रबन्धस्थितिवेदिनः।
द्रौपद्या अप्रवेशेऽस्मिन् आज्ञा राज्ञोऽपि लङ्घ्यते॥१०९॥

कुलशेखरभूपालकुलशेखरनिर्मिते।
धनञ्जये याज्ञसेन्याः प्रवेशः कथितोऽस्ति यत्॥११०॥

नाट्ये प्रविशतीत्यादिपरं विधिपरं ध्रुवम्।
स्थापकः प्रविशेत्, तत्रेत्यादेरध्वानमास्थितम्॥१११॥

सप्तमोऽङ्कुशः

भोः क्रियासाधनादीनां प्रकाराः सन्तु कामतः।
भावमात्रेण सर्वत्र प्रसीदति विभुर्नृणाम्॥११२॥

नानाविधाऽपि धीरेषा न्याय्ये वर्त्मनि युज्यते।
सद्भिरङ्गीकृतं त्यक्त्वा क्व वान्यत्र प्रवर्तताम्॥११३॥

गजमांसं निशायां किं भक्षणीयं दिवाथवा।
इति संशयमातिष्ठन् सर्वैर्दूरं विगीतये॥११४॥

विसंवादो न युक्तश्चेद्, अथास्मिन्नाट्यवर्त्मनि।
भवन्त एव किं तावद्, विवदन्ते परस्परम्॥११५॥

तदेवं नाटकन्यायविरुद्धं सर्वमप्यदः।
प्रयोगजातमेतेषां शैलूषाणामिति स्थितम्॥११६॥

न नाटकेविरुद्धो न प्रयोग इति युक्तिभिः।
अहास्याभिरमी नैव समर्थयितुमीशते॥११७॥

इह युक्तिं न जानीमः, प्रयोगस्त्वयमीदृशः ।
इत्येव वाणी शरणम्, अवसाने भविष्यति ॥११८॥

किन्निमित्तमिदं नाट्यं, किम्प्रकारं किमाश्रयम् ।
इति किञ्चिन्न जानन्ति, प्रयोक्तारोऽप्यमी नटाः ॥११९॥

उक्तमात्रं गृहीत्वा तत्, प्रयोगे गौरवं यदि ।
बहुमानोऽयमस्माभिः, शुकेषु विनिवेश्यते ॥१२०॥

किञ्च युक्ति प्रमाणं च द्वे अप्यनुसरन् भवेत् ।
अनुयोगस्समाधिश्चेत्येषैव विदुषां स्थितिः ॥१२१॥

रसेनापि प्रभूतेन वस्तुभङ्गे निवारिते ।
अरसेनामुनाकाण्डे क्रियाबन्धेन किं पुनः ॥१२२॥

अनेकान्ते त्वनुभावो न त्याज्य इति तु स्थिते ।
वेषासदृशचेष्टासु पृच्छेयं किमनौचिती ॥१२३॥

एवं प्रयोगः कर्तव्यः इह रूपविधौ सति ।
अनुक्तग्रहणं प्रोक्तत्यागो वा किं न चोद्यताम् ॥१२४॥

अर्थान्तरप्रपञ्चेन रसपीडा भवेद्यदि ।
वैद्यनिन्दाद्युपन्यासः सहसा केन गृह्यते ॥१२५॥

उपयोगवियुक्तस्य समादानेऽनभीप्सिते ।
भाषाकथनहेलादौ कस्य वा नास्तु संशयः ॥१२६॥

एवं विचाररेखासु निखिलासु यथायथम् ।
आप्ताशयानुरोधिन्यो युक्तयोऽप्यत्र जाग्रति ॥१२७॥

इदं सुधादीधितिमण्डलं च नाट्यं च हृद्यं महितं निकामम् ।
आद्ये कलङ्कोऽस्ति बत स्वभावचेष्टादिकं चारु न चान्तिमेऽस्मिन् ॥१२८॥

वितत्य नाट्यतां कामं, ग्रन्थस्यार्थो यथारुचि ।
मा विमोचि स्वभावेना, … निष्परा ॥१२९॥

नटानामङ्कुशमिति प्रोदतिष्ठन्नटाङ्कुशम् ।
नटो येन नटम्मन्यः सुस्थितो भरताध्वनि ॥

परिशिष्ट २

नटाङ्कुश में अन्य ग्रन्थों से उद्धृत श्लोक तथा कारिकाएँ

अङ्गाद्यभिनयस्येह – *ना॰शा॰* २५.१

अथवा च्छन्दतः कार्या – *ना॰शा॰* १७.४७

अनुभावविभावानां – *व्यक्तिविवेक* १.२५

अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य – *ध्वन्यालोक* ३.१४

अन्ये चाप्यर्थसंयुक्ता – *ना॰शा॰* ९.१६४

इत्युक्तो लक्ष्मणस्तस्याः – *वाल्मीकिरामायण*, अरण्यकाण्ड, १७.२१

इयं सा यत्कृते राम – *वाल्मीकिरामायण*, वडोदरा संस्करण, सुन्दरकाण्ड, १३.४

इह भावा रसाश्चैव – *ना॰शा॰* १३.३५

एषां पल्लवमंशुकानि – *आ॰चू॰* ६.४ (दो बार)

कार्यतश्चोत्तमादीनां – *दशरू॰* २.६६

गृहीत्वा पाठ्यमृग्वेदात् – *ऋग्वेद* १.१७

चतुर्विधश्चापि भवे – *ना॰शा॰* ८.८

ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः – *मनुस्मृति* ३.२१३

दयितमुपनयन्तं शैवलं – *आ॰चू॰* ६.१०

दूराध्वानं वधं युद्धं – *दशरू॰* ३.३४-३५

देवतादिनमस्कारः – *दरू॰* ३.१ वृत्ति में उद्धृत

देवानामिदमामनन्ति मुनयः – *मालविकाग्निमित्र* १.४

देशभाषाक्रियावेषलक्षणाः – *दशरू॰* २.६३

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं – *ना॰शा॰* १.११५

न मे दुःखं प्रिया दूरे – *वाल्मीकिरामायण* ६.५

न शास्त्रमस्तीत्येतावत् – *कामसूत्रम्* २.९.४१-४२

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके – *वाक्यपदीय* १.१२३

नानावस्थाःप्रकृतयः – *ना॰शा॰* २१.२

नाहमस्मिन् प्रभुः कार्ये – *रामायण* ४.४०.१२

निर्वेदादिरतादूप्याद् – *दशरू॰* ४.३६

नृत्ते चाभिनये चापि – *ना॰शा॰* ९.२०९

न्यस्तमस्त्रं निशाचर्याः – *आ॰चू॰* २

पाठ्यं तु संस्कृतं नृणाम् – *दशरू॰* २.६४

पूर्ववृत्तं तु यद्वाक्यं – *ना॰शा॰* २५.८२

प्रकृतिमधुराः प्राकृतधुराः – *सरस्वतीकण्ठाभरण* २.१६

बद्ध्वा राक्षसराजानम् – *रामायण* ५.१.३८

भक्ष्या पञ्चनखाः सेधा – *याज्ञवल्क्यस्मृति* १.१७७

मरकततटे मन्दाकिन्याः – *आ॰चू॰* ३.२६

मरकतरुचोमाद्यद्भृङ्गा – *आ॰चू॰* ६.९ (दो बार)

मैनाकं नागकन्या – *आ॰चू॰* ६.१

यत्राभिनेयं गीतं स्यात् – *ना॰शा॰* ४.२७६

यदेकां भूमिकां कृत्वा – *ना॰शा॰* १३.७७

यानि यानि मनोज्ञानि – *आ॰चू॰* ६.२

रक्षोवधाद्विरतकर्म विसृज्य चापम् – *आ॰चू॰* ६.२१

राजा दशरथो नाम – *रामायण* ५.२९.२

लोकधर्मी नाट्यधर्मी – *ना॰शा॰* ६.६४

वंशवीर्यश्रुतादीनि – काव्यादर्श १.२२

वयोनुरूपः प्रथमं तु – नाशा॰ १३.६८

वरडिण्डकवेषविभूषण – चाक्यारों द्वारा गाया जाना वाला स्फुट पद्य

वाचि यत्नो विधातव्यः – *ना॰शा॰* १४.२

वासो वल्कलमास्पदं – *आ॰चू॰* १.९

वेदोपवेदैः सम्बद्धो – *ना॰शा॰* १.१८

वेषेण वर्णकैश्चैव – *ना॰शा॰* २१.९०-९१

वैद्यः क्रूरो यमः क्रूरः – चाक्यारों द्वारा गाया जाना वाला स्फुट पद्य

व्यवहारेष्वसाध्यानाम् – *प्रतिज्ञायौगन्धरायण*

व्याधिग्रस्ते ज्वरार्ते च – *ना॰शा॰* ९.१७७

शिखिनि शलभो ज्वालाचक्रैः – आश्रमवर्णन में नट के संवाद

शृणुत मनोभिरवहितैः क्रियामिमां – *विक्रमोर्वशीयम्* १.२

श्रुतिस्मृतिसमाचार – *ना॰शा॰* १.११९ के बाद अतिरिक्त पाठ

सर्वे हस्तप्रचारास्तु – *ना॰शा॰* ९.१७१

ससूर्याय महेन्द्राय नमः – *आ॰चू॰* षष्ठ अंक

स्वर्गं शोकातिभारान्मम जनकसुते – *आ॰चू॰* ३.२

स्नातस्य यस्य – *प्रतिज्ञायौगन्धरायण* २.४

स्वादयन् रसमनेकसंस्कृत – *शिशुपालवध* १४.५०

हत्वा बालिनमाहवे – *आश्चर्यचूडामणि* ७.११

हिमकरहिमगर्भा – *आ॰चू॰* पञ्चम अंक

परिशिष्ट ३

नटाङ्कुश में उद्धृत/उल्लिखित ग्रन्थ

अभिज्ञानशाकुन्तल

आश्चर्यचूड़ामणि

कल्याणसौगन्धिका

काव्यादर्श

दशकुमारचरित

नागानन्द

नाट्यशास्त्र

प्रतिज्ञायौगन्धरायण

वाक्यपदीय

वाल्मीकिरामायण

व्यक्तिविवेक

शाश्वतिकानन्द

शिशुपालवध

सरस्वतीकण्ठाभरण

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

आश्चर्यचूडामणि – शक्तिभद्र, सं॰ कुप्पुस्वामी शास्त्री, बाल मनोरमा सीरीज संख्या 9, मेलापुर, 1926.

Bhāratīya-Nāṭya-Cāstram – Traite de Bharata Sur le Theatre, ed. Joanny Grosset, Annals de L'Universite de Lyon, Fasc. XL, Paris, 1898.

Nāṭyaśāstra, Part I, with *Abhinavabhāratī*, ed. Ramkrishna Kavi, 1926; ed. Rama Swami Shastri, 1956; ed. K. Krishnamurti, 1992, Vadodara: Oriental Research Institute, MS University.

———, Part II, ed. Ramkrishna Kavi, 1934, rev. 1956; ed. V.M. Kulkarni and T.S. Nandi, 2001, Vadodara: Oriental Research Institute, MS University.

———, Part III, ed. Ramkrishna Kavi, 1954; ed. V.M. Kulkarni and T.S. Nandi, 2003, Vadodara: Oriental Research Institute, MS University.

———, Part IV, II edn, ed. V.M. Kulkarni and T.S. Nandi, 2006, Vadodara: Oriental Research Institute, M.S University.

———, ed. K.P. Narayan Pisharoti, Trichur: Kerala Sahitya Akademi, vol. I (1971); vol. II (1979); vol. III (1984).

———, Kāvyamālā edn, Nirnay Sagar Press, 1942.

———, ed. Batuk Nath Sharma and Baldev Upadhyaya, 1929, Varanasi: Chaowkhambha Sanskrit Series.

———, 4 vols, with *Abhinavabhāratī*, *Madhusūdanī* on *Abhinavabhāratī* and Hindi translation, Part I (1971); Part II (1975); Part III (1983), Varanasi: Banaras Hindu University.

———, with *Abhinavabhāratī*, 4 vols, ed. R.S. Nagar, Ist edn, Delhi: Parimal Publications, 1983.

———, 4 vols, with English translation by N.P. Unni, Delhi: Nag Publishers, 1998.

———, 4 vols, with English translation by Manmohan Ghosh, ed. Pushpendra Kumar, 2006, Delhi: New Bharatiya Book Corporation.

———, free rendering in English, Bangalore: IBH.

नाट्यशास्त्र, चार खण्ड, हिन्दी अनुवाद सहित, सम्पादन तथा अनु॰ बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1978।

———, अध्याय, १-१६, हिन्दी अनुवाद, रघुवंश, मोतीलाल बनारसी दास, नई दिल्ली, १९६४।

———, हिन्दी अनुवाद सहित, अनु॰ पारस नाथ द्विवेदी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९९२।

———, सङ्क्षिप्त पाठ, सं॰ तथा हिन्दी अनु॰ राधावल्लभ त्रिपाठी, राजस्थान संस्कृत अकादेमी, जयपुर, २०२२।

संक्षिप्त नाट्यशास्त्र, सं॰ राधावल्लभ त्रिपाठी, प्र॰सं॰ अक्षयवटप्रकाशन इलाहाबाद, 1988, द्वितीय संस्करण, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2012.

सहायक अंग्रेज़ी ग्रन्थ

Appa Rao, P.S.R., 1967, *A Monograph on Bharata's Nāṭyaśāstra*, Hyderabad: Natyamala Publishers.

Gnoli, R., 1968, *The Aesthetic Experience According to Abhinavagupta*, Chowkhamba Sanskrit Studies, vol. LXII, Varanasi: Chowkhamba Sanskrit Series Office.

Lath, Mukund, 1978, *A Study of Dattilam*: *A Treatise on the Sacred Music of Ancient India*, New Delhi: Impex India.

Masson, J.L. and M.V. Patvardhan, 1969, *Śāntarasa and Abhinavagupta's Philosophy of Aesthetics*, Pune: Bhandarkar Oriental Research Institute.

———, 1970, *Aesthetic Rupture*, vol. I: *Chap VI* of *Nāṭyaśāstra* with English translation and excepts from *Abhinavabhāratī,* Pune: Bhandarkar Oriental Research Institute.

Nair, Sreenath, 2015, *The Natyasastra and the Body in Performance: Essays on Indian Theories of Dance and Drama*, North Carolina: McFarland.

Namboodiripad, Narayanan, 2014, *Revealing the Art of Nāṭyaśāstra,* New Delhi: Munshiram Manoharlal.

Paulose, K.G. (ed.), 2013, *Vyaṅgyavyākhyā: The Aesthetics of Dhvani in Theatre*, Delhi: Rashtriya Sanskrit Sansthan and D.K. Printworld.

———, 2015, *Introduction to Kūṭiyāṭṭam: A Living Tradition of Ancient Theatre*, Kaladi: Sri Sankaracharya University.

———, 2006, *Kūṭiyāṭṭam*, Trivendrum: D.C. Books.

Pollock, Sheldon, 2015, *Reader on Rasa: A Historical Sourcebook in Indian Aesthetics*, New York: Columbia University Press.

Raghavan, V., 2004, *Splendours of India Dance*, Chennai: Centre for Performing Arts, University of Madras.

Raghavan, V. et al., 1966, *New Catalogus Catalogorum*, Part II, Chennai: University of Madras.

Raja, K. Kunjunni, 1980, *The Contribution of Kerala to Sanskrit Literature*, Madras: University of Madras.

Ramratnam, 2014, *Sanskrit Drama, with Special Reference to Prahasana and Vīthī*, New Delhi: D.K. Printworld.

———, 2010, *Dance Drama Traditions*, Delhi: Munshiram Manoharlal.

Subrahmanyam, Padma, 1997, *Nāṭyaśāstra and National Unity*, Ravi Varma Sanskrit Granthavali, Tripunithura: Government Sanskrit College.

Subrahmanyam, Padma, 1997, *Legacy of a Legend: Collection of Articles*, Chennai: Nrityodaya.

Tripathi, Radhavallabh, 1981, *Lectures On Nāṭyaśāstra*, Pune: CASS, Pune University.

———, 2006, *Indian Aesthetics Revisited*, Pune: CASS, Pune University.

——— (ed.), 2012, *Nāṭyaśāstra and Indian Dramatic Tradition* (Proceedings of seminar), Samikṣikā Series 3, New Delhi: NMM.

———(ed.), 2013 *Nāṭyaśāstra in the Modern World*: *Proceedings of the 15th World Sanskrit Conference Special Section*, New Delhi: Rashtriya Sanskrit Sansthan & D.K. Printworld.

——— (ed.), 2018, *Panel on Nāṭyaśāstra: Proceedings of the Special Panel in 16th World Sanskrit Conference*, Bangkok: Silpakorn University.

Unni, N.P., 2014, *History of Nāṭyaśāstra*, Delhi: New Bharatiya Book Corporation.

Vatsyayana, Kapila, 2010, *Arts of Kerala Kalakshetra*, Tripunithura: Sri Ramavarama Government Sanskrit College.

———, 1967, *Classical Indian Dance in Literature and Arts*, New Delhi: Sangeet Natak Akademi, (third revised edition published by D.K. Printworld, New Delhi in 2022).

हिन्दी ग्रन्थ

केतकर, गोदावरी, 1998, *नाट्यशास्त्र – भरतमुनि के नाट्यसिद्धान्तों का सांगोपांग विवेचन*, हिन्दी अनुवाद जशवंती दवे, परिमल पब्लिकेशंस, दिल्ली।

त्रिपाठी, राधावल्लभ, 1988, *भारतीय नाट्यस्वरूप और परंपरा*, संस्कृत परिषद्, सागर।

———, 1988, *नाट्यशास्त्र और विश्वरंगमंच*, प्रतिभा प्रकाशन, नई दिल्ली।

———, 2012, *नाट्यशास्त्र विश्वकोश*, चार खण्ड, प्रथम संस्करण, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली; द्वितीय सस्करण, दो खण्ड, न्यू भारती बुक कारपोरेशन, दिल्ली।

———, (सं॰), 1987, *अप्राप्य नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ*, (सं॰), संस्कृत परिषद्, सागर।

त्रिपाठी, रामसागर, 1971, *भारतीय नाट्यशास्त्र और रंगमंच*, अशोक प्रकाशन, दिल्ली।

दीक्षित,सुरेंद्रनाथ, 1970, *भारत और भारतीय नाट्यकला*, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

द्विवेदी, पारसनाथ, 2017, *नाट्यशास्त्र का इतिहास*, चौखंभा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी।

मलयालम ग्रन्थ

केरल साहित्यचरितम् – महाकवि उल्लूर, केरल विश्वविद्यालय, त्रिवेन्द्रम्।